प्रभुभक्ति

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

ओ३म्

९३

॥ ओ३म् ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

प्रभु-भक्ति

(संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण)

लेखक
श्री खुशहालचन्द आनन्द
दिवंगत महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-६

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क,
दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८७

मूल्य : ५·००

मुद्रक : कुमार ऑफ़सेट प्रिंटिंग प्रेस, विश्वास नगर, दिल्ली-११००३२

समर्पण

क्या समर्पण करूँ ? कुछ हो मेरे पास तब तो ! मेरे पास तो कुछ भी नहीं । मेरा शरीर भी तो मेरा नहीं, यह भी तो तेरा ही मन्दिर है । फिर क्या अर्पण करूँ मेरे प्रियतम ! क्या यह विचारमाला ? क्या यह मेरी है ? प्रभु, तू जानता है कि यह तेरी ही कृपा का प्रसाद है, फिर यह तेरा ही प्रसाद तुझे समर्पण करने में मेरा क्या लगता है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं,
जो कुछ है सब तोर ।
तेरा तुझ को सौंपते,
क्या लागत है मोर ।।

स्वीकार कीजिये इस अपने-आपको—

सैण्ट्रल जेल, गुलबर्गा
पहली वैशाख, १९९६

तेरे भक्तों का चरण-रज
—खुशहालचन्द

"पितवे नः श्रृणुहि हूयमानः।" (अथर्व०)

जब भी तुझे पुकारा जाए, तभी पिता के समान हमारी टेर सुन।

□

"पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व"

पिता बन कर हम पुत्रों को प्यार कर!

□

"अजरा सस्ते सख्ये स्याम"

हम तेरी मित्रता में कभी बूढ़े न हों।

□

"वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा
सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (यजु०)

ज्ञानी पुरुष उस सत् ब्रह्म को हृदय की गुफा में छिपा हुआ देखता है।

□

॥ ओ३म् ॥

तब से अब

रियासत हैदराबाद के गुलबर्गा जेल में जब सन् १९३९ में यह पुस्तक लिखा गया था, तब से अब सन् १९६० तक, इन २१ वर्षों में इतना परिवर्तन हो चुका है, इतनी उथल-पुथल हो चुकी है कि दुनिया के कितने भाग पहचाने ही नहीं जा सकते। परन्तु, नहीं बदली तो दुनिया की वास्तविक आवश्यकता नहीं बदली। तब भी दुखिया दुनिया के कल्याण के लिए प्रभु-भक्ति ही की आवश्यकता थी और अब भी इसी दुःखी दुनिया के दुःखों का अन्त करने के लिए प्रभु-भक्ति ही की आवश्यकता है।

पहले इस पुस्तक को प्रकाशित करने की आज्ञा मैंने 'आर्य प्रादेशिक सभा, लाहौर' को दी थी। छः-सात संस्करण छपे भी, परन्तु फिर सभा कार्य करते-करते थक गई और उसके साहित्य-विभाग को विश्राम की आवश्यकता प्रतीत हुई, इसलिए अब मैं इसके प्रकाशन की आज्ञा आर्यसमाज के विख्यात प्रकाशक श्री गोविन्दराम हासानन्द जी, नई-सड़क, देहली को देता हूँ ताकि इस पुस्तक का प्रचार-प्रसार हो और दुःखी दुनिया को सुखी होने का यथार्थ मार्ग मिल सके।

योगनिकेतन
उत्तर काशी

आनन्द स्वामी सरस्वती
भूतपूर्व—खुशहालचन्द

क्रम

१
प्रस्तावना

एक विद्वान् का कहना है कि मनुष्य को अपना जीवन संसार में इस ढंग से व्यतीत करना चाहिए कि जब वह दुनिया को छोड़े तो दुनिया का जितना हर्ष-समुदाय है, जगत् के उल्लास का जितना जोड़ है, उसमें उसे कुछ वृद्धि करके जाना चाहिए। यदि हम वृद्धि करके जाते हैं तो समझ लो कि हमने धर्म का जीवन व्यतीत किया, परन्तु यदि हम दुनिया की हर्ष की मात्रा कम और शोक की मात्रा को बढ़ाकर दुनिया को छोड़ते हैं तो सभी स्वीकार करेंगे कि हमने धार्मिकता का जीवन व्यतीत नहीं किया। धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है कि उसकी तैयारी की जाय। कोई भी काम तैयारी किये बिना नहीं हुआ करता, इसलिए उसकी तैयारी करनी ही होगी। तैयारी का उपाय यह है कि मनुष्य की हैसियत से हमें सोचना चाहिए कि हमारे कर्त्तव्य क्या हैं? यदि हम सोच-समझकर उन्हें पूरा करने का यत्न करेंगे, तो यह न केवल तैयारी होगी अपितु तैयारी के साथ 'हर्ष' की मात्रा में वृद्धि इस उद्देश्य की पूर्ति का क्रियात्मक साधन भी होगा।

मनुष्य के कर्त्तव्य—

मनुष्य के कर्त्तव्य, संक्षिप्त रीति से यदि कहा जाय तो तीन भागों में विभक्त हो सकते हैं। वे विभाग ये हैं:—

(१) मनुष्य को, अच्छा मनुष्य बनने के लिए, अपने सम्बन्ध में क्या करना चाहिए?

(२) उसके दूसरे प्राणियों के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं ?
(३) ईश्वर के सम्बन्ध में उसे क्या करना चाहिए ?

इन्हीं को दूसरे शब्दों में (१) शारीरिक, (२) सामाजिक, और (३) आत्मिक उन्नति कहते हैं। कर्त्तव्य के इन विभागों का कुछ विवरण देना उचित है ताकि सभी को उनका ज्ञान हो सके।

कर्त्तव्य का पहला भाग—

इस विभाग में, मनुष्य को अपने सम्बन्ध में क्या करना चाहिए, इस पर विचार करना होगा। उन्हीं का यहाँ सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

पहला कर्त्तव्य—अपनी इन्द्रियों को बलवान् बनाना है। मनुष्य का बाह्य स्थूल शरीर सिर से लेकर पाँव तक इन्द्रियमय है। फलतः इन्द्रियों को बलवान् बनाने का अर्थ यह हुआ कि बाह्य शरीर को बलवान् बनाना। शारीरिक बल प्राप्त करने की प्रत्येक को इतनी चिन्ता रहती थी कि चार आश्रमों में से पहले आश्रम में विद्याध्ययन के सिवाय ब्रह्मचर्य के द्वारा अपने को बलवान् बनाना मुख्य कर्त्तव्य था। इस देश की माताएँ, यदि उनसे निर्बल सन्तान पैदा हो जाय तो उसे अपने लिए घातक समझती थीं। महाभारत में एक जगह आया है कि सप्त ऋषि, जिनमें अरुन्धती नाम वाली एक ऋषिका भी थी, यात्रा कर रहे थे। एक सरोवर के कमल के डंठल तोड़कर उन्होंने एक जगह रखे परन्तु उन्हें वहाँ से कोई उठा ले गया। जब ले जाने-वाला कोई दिखाई नहीं दिया तो फिर एक-दूसरे पर सन्देह होने पर यह ठहरा कि प्रत्येक अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कसम खाये। उस मौके पर अरुन्धती की कसम यह थी—**"अभोग्याऽवीर-सूरस्तु बिसरस्तेये करोति या"** अर्थात् जो पाप माता को अनाचार करने और निर्बल सन्तान पैदा करने से लगता है, वही उसको लगे, जिसने डण्ठलों को चुराया हो। स्पष्ट है कि उस समय माताएँ निर्बल सन्तान पैदा करने को अनाचार और चोरी करने जैसा घातक समझती

थीं। इस निर्बलता को घातक समझते हुए, शारीरिकोन्नति प्रत्येक को करनी चाहिए।

दूसरा कर्त्तव्य—अपने को पवित्र बनाना है। पवित्रता से बल का दुरुपयोग नहीं हुआ करता। इन्द्रिय और मन में पवित्रता का संचार होने से मनुष्य सदाचारी बना रहता है। पवित्रता के लिए मन का शुद्ध होना अनिवार्य है। मन शुद्ध अन्न के सेवन और सत्य के क्रियात्मक प्रयोग से शुद्ध हुआ करता है। छल और कपट से पैदा किया हुआ अन्न मन को दूषित कर दिया करता है। कहावत है—'यथा अन्न तथा मन।'

तीसरा कर्त्तव्य—अपने को अच्छा बनाने के लिए मनुष्य का तीसरा कर्त्तव्य यह है कि वह अपने अन्दर श्रद्धा के भाव पैदा करे। श्रद्धा, यास्काचार्य के निर्वचनानुसार, **'श्रत् सत्यं दधाति या सा श्रद्धा'** सचाई का धारण करना है। सचाई का ज्ञान और चीज़ है, सचाई का धारण करना दूसरी चीज़। सचाई का ज्ञान रखने से मनुष्य सचाई पर अमल करने के लिए बाधित नहीं होता; परन्तु सचाई के धारण कर लेने से, अर्थात् स्वाद चखने के सदृश उसके अनुभव कर लेने से, वह उस सचाई के विरुद्ध आचरण न कर सकने के लिए मजबूर हो जाता है।

कर्त्तव्य का दूसरा भाग—

मनुष्यों को दूसरे के प्रति क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में उसके कर्त्तव्य इस प्रकार हैं:—

१. अपने हृदय में उसे किसी के लिए भी ईर्ष्या और द्वेष के भाव नहीं रखने चाहिएँ। इन भावों के रखने से किसी दूसरे को हानि हो या न हो, यह तो संदिग्ध है, किन्तु यह निश्चित है कि इनसे उसका निज का हृदय मलिन होकर किन्हीं अच्छी बातों के सोचने और विचारने के योग्य नहीं रहता।

२. मनुष्य नास्तिक हुए बिना किसी दूसरे को तकलीफ नहीं दे सकता। ईश्वर व्यापकत्त्व से सभी मनुष्यों के 'शरीरों में व्याप्त' रहता

है। जब प्रत्येक प्राणी के शरीर में ईश्वर मौजूद है, तब उसका निरादर किये बिना कैसे उसके निवास-मन्दिर को कोई तोड़-फोड़ सकता है? यही निरादर तो नास्तिकता है।

३. मनुष्य को दूसरों की भी उतनी ही चिन्ता करनी चाहिये जितनी कि वह अपनी करता है। उसे अच्छी तरह से यह बात समझ लेनी चाहिए कि उसकी उन्नति का रहस्य अन्यों की उन्नति में छिपा हुआ है।

कर्त्तव्य का तीसरा भाग—

ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-विश्वास से मनुष्य अपनी आत्मा को बलवान् बना सकता है। ईश्वर को जानने के लिए अपने को पहले जान लेना आवश्यक है। क्यों? इसलिए कि ईश्वर-ज्ञान-प्राप्ति इन्द्रियों के द्वारा नहीं हुआ करती। इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने बाह्य विषयों की ओर है और इसलिए वे अपने बाह्य विषयों के सिवा, अन्य कुछ नहीं देख सकते और इसलिए उन्हें बहिर्मुखी कहा जाता है। इसके विपरीत आत्मा, अन्तर्मुखी होने से अपने को भी देख सकता है और भीतर मौजूद परमात्मा को भी देख सकता है। यदि वह अपने को नहीं जान सकता, तो फिर परमात्मा को किस प्रकार देख सकता है? इसलिए अपने को जान लेने की शिक्षा, विद्वान् जगत् के प्रारम्भ से अब तक बराबर देते चले आये हैं—'Know thy-self' प्रसिद्ध कहावत है। स्पिनोता ने एक जगह लिखा है कि "जिस व्यक्ति को अपना और अपनी भावनाओं का ज्ञान है, उसके लिए, स्वीकार करना पड़ेगा कि वह परमात्मा से प्रेम करता है।" जब हम कहते हैं कि परमात्मा का ज्ञान हमें है तो इसका अभिप्राय केवल इतना होता है कि हम उसे जानते हैं जो हमारे कल्याण के लिए आवश्यक है। उसे ठीक-ठीक जान लेना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। उर्दू के एक कवि ने लिखा है और बहुत अच्छा लिखा है:—

क्या तुरफ़ा है खूबी मेरे महबूब की देखो।
दिल में तो वो आता है, समझ में नहीं आता ॥

हमें क्यों उसके जानने अथवा उसे प्रेम करने की ज़रूरत है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

संसार में शान्ति, मनुष्य के भ्रातृ-भाव, बिला लिहाज़ रंग, नस्ल और देश समस्त देशवासियों को प्रेम के एक उत्कृष्ट सूत्र में बाँधे रहने का कारण और एकमात्र कारण वास्तविक आस्तिकता है। वेद में इस बात को असन्दिग्ध शब्दों में कहा गया है कि "इस पृथिवी पर बसनेवाले समस्त मनुष्यों का एक विशाल परिवार है, जिसमें न कोई छोटा है न कोई बड़ा, अपितु सब भाई हैं। उन सबका पिता ईश्वर और उन सबकी माता पृथिवी है।"[1] वेद-प्रतिपादित इस सार्वजनिक भ्रातृ-भाव का अनुभव, मनुष्य उसी समय कर सकता है, जब पहले ईश्वर के सार्वत्रिक पितृभाव का विश्वास उसे हो जाय। इसी विश्वास को पहले आ जाने की ज़रूरत है। ईश्वर के प्रेम का प्रारम्भ-रूप वह होता है, जब मनुष्य के हृदय में ईश्वर-विश्वास का सूत्रपात हुआ करता है। यह विश्वास बढ़ते-बढ़ते निश्चयात्मक ज्ञान का रूप धारण कर लेता है और तभी प्रेम का उत्कृष्ट रूप प्रादुर्भूत होता है। उससे प्रेमी प्रियतम के रूप में मग्न होकर अपनी सुध-बुध भुला देता है। यही प्रेम की उत्कृष्ट अवस्था भक्ति है। भक्ति की भावना में भक्त केवल स्वयं ही शांत और प्रसन्नवदन नहीं रहता, अपितु अपने सम्पर्क में आनेवाले प्राणिमात्र के आह्लाद का कारण बन जाता है। यह निश्चित है कि संसार के अधिकतर प्राणी ऐसे नहीं हो सकते, परन्तु यदि ध्येय सबका यही हो जाय तो जो कोई इस मार्ग में जितना भी चलेगा, वह उतने ही से, सुख और शान्ति के साम्राज्य की वृद्धि का एक दरजे तक अवश्य कारण बन जायेगा। इसलिए आस्तिक भावना आज भी पुराने ढाँचे

---

१. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥
ऋग्वेद ५। ६०। ५॥

की त्याज्य वस्तु नहीं, अपितु जीती-जागती, संसार के वर्तमान अशान्ति-रूपी रोग की एकमात्र चिकित्सा है। फलतः अशान्ति से पीड़ित संसार-पुरुष को, चाहे वे यूरोप में निवास करते हों या एशिया में, खुशी और नाखुशी से इसी चिकित्सा-विधि का सेवन करना ही पड़ेगा। अस्तु, यह बात कही जा चुकी है कि इस चिकित्सा-विधि के सेवन-रूप ईश्वर-विश्वास से मनुष्य का आत्मा बलवान् बना करता है। अब हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि किस प्रकार आत्मा में शक्ति और बल आया करता है। इसके मुख्यतया पाँच साधन हैं :—

पहला साधन—

आत्मा के प्रतिकूल कार्यों से बचना और आत्मानुकूल कार्यों का करना।

प्रतिकूल कार्यों से निर्बलता और अनुकूल कार्यों से आत्मा में सबलता आया करती है। ईश्वर के दिव्य गुण एक से लेकर अन्त तक, प्राणिमात्र के कल्याण के लिए काम में आया करते हैं। इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि यथासम्भव, वह उनमें से जितने गुणों को भी अपने आत्मा में ला सके, लाये। आत्मा के प्रतिकूल कार्य वही होते हैं जिनसे अन्यों को कष्ट पहुँचे। ईश्वरीय गुणों की अनुगामना से वह ऐसे ही कार्य कर सकेगा जो आत्मानुकूल हों और किसी को भी कष्ट देने-वाले न हों। गुणों को अपने अन्दर लाने का साधन जप है। इसलिए दैनिक जप में कुछ समय अवश्य प्रत्येक व्यक्ति को लगाने का यत्न करना चाहिये।

दूसरा साधन—

आत्मनिरीक्षण (Self-inspection) से मनुष्य के भीतर से वे सारे कार्य, जो आत्मा के प्रतिकूल होते हैं, रोके जा सकते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य किसी खास समय दूसरों पर ध्यान न देकर केवल अपने कृत्यों पर विचार किया करे और उन कृत्यों में, जो उसे मालूम

हों कि दुष्कृत्य हैं, उन्हीं के छोड़ने का निश्चय परमात्मा की साक्षी करते हुए, कर लेना चाहिये और फिर उस निश्चय को बराबर स्मरण करते रहना चाहिये। सोते समय यह काम अधिक-से-अधिक उत्तम रीति से किया जा सकता है। फलतः प्रतिदिन उसी समय २० मिनट इस कार्य में लगाने चाहियें। इसका फल यह होगा कि अनेक दुर्गुण और कुकृत्य उससे छूटते रहेंगे। जप से जहाँ मनुष्य में अच्छे गुण आया करते हैं, आत्म-निरीक्षण से वहाँ उसके अन्दर से दुर्गुण निकला करते हैं।

तीसरा साधन—

आत्म-बलबुद्धि का तीसरा साधन तप है। तप कहते हैं कठोरताओं के सहन करने को। कठोरताओं को सहन करने से मनुष्य के भीतर साहस की वृद्धि होती है, जिससे उसे कोई कष्ट, कष्टित नहीं कर सकता। आराम-तलब आदमी सदैव दुःख उठाया करते हैं। परन्तु तपस्वी और अपनी ओर से प्रसन्नता के साथ दुःखों को सहन करनेवाले व्यक्ति सुखमय जीवन व्यतीत किया करते हैं। महाभारत में, एक जगह द्रौपदी ने कहा कि—

"सुखं सुखेन नेह जातु लभ्यम्, दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।"

दुःख और सुख के चक्र एक के बाद दूसरा, मनुष्य के सामने क्रमशः आया करते हैं। यदि एक व्यक्ति अपनी ओर से दुःख के चक्र को तपस्या द्वारा अपने सामने ले आता है, तो निश्चित रीति से उसके बाद का चक्र सुख का होगा और मनुष्य तपस्वी जीवन रखते हुए जब तक चाहे इस सुख के चक्र को अपने सामने रखता है। दुःखी मनुष्य निर्बलात्मा और सुखी सदैव सबलात्मा हुआ करता है।

चौथा साधन—

स्वाध्याय चौथा साधन है। उत्तम ग्रन्थों के अध्ययन से मनुष्य के विचार विशाल हुआ करते हैं और तंगदिली और संकोच के संकुचित

क्षेत्र से वह बाहर हो जाया करता है। संकोच से आत्मा में ग्लानि और उदारता से आत्मा आह्लादित हुआ करता है। ऐसे ग्रन्थ, जो मनुष्यों की रुचि बिगाड़ने और उनमें कुवासना और कुरुचि पैदा करनेवाले हैं, कभी नहीं पढ़ने चाहियें। उत्तम पुरुषों और महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित्र और धार्मिक तथा आचारिक जीवन का दर्जा ऊँचा करनेवाले ग्रन्थ ही स्वाध्याय के ग्रन्थ हो सकते हैं।

पाँचवाँ साधन—

उत्कृष्ट सेवा के भावों का मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाना पाँचवाँ साधन है। सेवा से मनुष्य का हृदय विशाल होता है और उसके भीतर निरभिमानता आती है। सेवा से केवल सेवक ही का उपकार नहीं होता; किन्तु जिसकी सेवा करते हैं, उसका भी भला हुआ करता है। मान लो, तुम्हारे पड़ोस में एक व्यक्ति रहता है, जिसमें चोरी करने की कुटेव आ गई है, तो तुम किस प्रकार उसका सुधार कर सकते हो ? यदि तुम उसे बार-बार चोर कहकर लज्जित करना चाहते हो और चाहते हो कि इससे उसका सुधार हो जाय तो यह सम्भव नहीं। तुम्हारे बार-बार के चिढ़ाने से खीझकर वह एक दिन कह देगा कि अच्छा मैं चोर हूँ, तुम जो कुछ करना चाहते हो करो। अब वह निर्लज्ज हो गया; अब उसे चोर कहे जाने की लज्जा बाकी नहीं रही। किसी भी पतित व्यक्ति का सुधार उसके अवगुणों को बार-बार दुहराकर चिढ़ाने से नहीं हुआ करता। सुधार का मार्ग दूसरा है। उसका अवलम्बन करने ही से सफलता मिला करती है। तुम किसी व्यक्ति में जो अवगुण है, उसका जिक्र भी न करो; किन्तु यत्न करो कि उसके दुःख-सुख और विशेषकर दुःख में सहायक बनो। ऐसा दो-चार बार करने से वह तुमसे इतना प्रभावित और तुम्हारा इतना कृतज्ञ होगा कि बिना तुम्हारे कहे, स्वयमेव अपने अवगुणों को छोड़ देगा।

सेवा का एक उदाहरण—

बंगाल में भक्तिमार्ग के प्रचारक चैतन्य के जीवन की एक घटना बड़ी शिक्षाप्रद है। चैतन्य एक समय अपने कुछ शिष्य और अनुयायियों के साथ बंगाल के एक नगर में गये और एक वाटिका में अपना आसन जमाया। नगर के लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। उन्होंने, इन आगंतुकों में अधिकांश से एक प्रश्न किया और वह यह था कि तुम्हारे नगर में सबसे अधिक ख़राब आदमी कौन है ? प्रत्येक ने उत्तर दिया कि मघाई नाम का एक व्यक्ति उनके नगर में, सबसे अधिक बुरा और प्रायः सभी के लिए कष्टों का कारण है। चैतन्य ने अपने दो शिष्यों को भेजा कि जाओ मघाई को बुला लाओ। दोनों शिष्य मघाई के पास पहुँचे। वह उस समय अपने किसी मित्र के साथ बैठा हुआ शराब पी रहा था। जब शिष्य ने गुरु का सन्देश उसे दिया तो उसने एक ख़ाली बोतल उसके सिर में दे मारी। सिर में ज़ख्म हो गया और ख़ून निकलने लगा। शिष्यों ने गुरु के पास जाकर घटित घटना सुना दी। गुरु ने अपने आठ-दस शिष्यों को भेजा कि जाओ, और यदि मघाई ख़ुशी से न आये तो उसे पकड़कर ले आओ। इस प्रकार पकड़ा हुआ मघाई चैतन्य के समीप पहुँचा। चैतन्य ने एक गुदगुदा फ़र्श बिछवा रखा था। मघाई उसी फ़र्श पर लिटाया गया। वह सोच रहा था कि उसे दण्ड मिलेगा, परन्तु देखता क्या है कि चैतन्य आकर उसके पैरों के पास बैठ गये, और उन्होंने अपने हाथ उसके पैरों पर इस प्रकार रखे, जैसे कोई किसी के पाँव दबाता है। मघाई घबराकर उठ बैठा। उसका हृदय उलट-पलट हो गया और वह चैतन्य के हाथों को पैर से हटाकर घबराये हुए दिल और तर आँखों से चैतन्य से कहने लगा कि 'महाराज ! मैं बड़ा पातकी हूँ। मैंने अनेक अपराध किये हैं, आपने क्यों अपने पवित्र हाथों को मेरे शरीर से लगाकर अपवित्र किया ?' अब यह मघाई पहला मघाई नहीं रहा था। अब उसके भीतर आत्मग्लानि पैदा हो चुकी थी और वह अपने दुष्कृत्यों से घृणा करने लगा था। अधिक कहने की ज़रूरत नहीं, चैतन्य का जीवन-चरित्र बतलाता

है कि मघाई उनके शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ शिष्य बन गया। यह सब चैतन्य के सेवाभाव का फल था। अस्तु, इन उपर्युक्त पाँच बातों पर अमल करने से मनुष्य का आत्मा बलवान् बन जाया करता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य पहले तीनों प्रकार के कर्त्तव्यों को करके श्रेष्ठ मनुष्य बन जाता है, और इन अन्त में वर्णित पाँच बातों पर अमल करके अपने आत्मा को भी बलवान् बना लिया करता है। तभी उसके भीतर उच्च-आस्तिकता के भाव जागरित होते हैं और तभी वह ईश्वरोपासना की ओर रुजू होकर भक्ति-मार्ग का पथिक बना रहता है। हाँ, उसी भक्ति का, जिसके प्रचार के उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया है, और जिसके लिए ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

दैनिक 'मिलाप' लाहौर के स्वामी और 'आर्य्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर' के प्रधान लाला खुशहालचन्द जी इस समय मेरे साथ सैण्ट्रल जेल गुलबर्गा (हैदराबाद) में हैं। जो उन्हें, और उनके परिवार को जानता है, वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि लाला जी तथा उनका परिवार कैसा उच्च श्रेणी का विशुद्ध आर्य्य जीवन रखता है। लाला खुशहालचन्द जी के लिए भक्ति-मार्ग सब-कुछ है, और इसलिए उन्होंने जेल के अवकाश के समय का सदुपयोग करते हुए भक्ति पर यह ग्रन्थ लिखा। कई बार यहाँ जेल की प्रतिकूलताओं के कारण उनका स्वास्थ्य भी खराब रहा, और भी अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े, परन्तु फिर भी भक्ति के प्रेम से, उन्होंने ग्रन्थ का लिखना नहीं छोड़ा। पुस्तक की भाषा उत्तम, सरल और हृदयग्राही है। इसमें सभी विषयों का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि उससे प्रत्येक कम-से-कम शिक्षा रखनेवाला व्यक्ति भी लाभ उठा सके। उनकी लिखी अपनी राम-कहानी से साफ प्रकट होता है कि उन्होंने जिस मार्ग का आश्रय लिया वह उनके लिए कितना शान्तिप्रद सिद्ध हुआ। इसीलिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अनेक बहनों और भाइयों को भी इससे लाभ उठाने का अवसर दें; पुस्तक पर सरसरी निगाह डालने से भी इसकी उपयोगिता प्रकट हो जाती है।

भक्ति की विधि, मन के निग्रह के साधन, संकल्प, संस्कार और स्वाध्याय आदि अनेक उपयोगी विषयों पर पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। पुस्तक का वह भाग, जिसमें दिखलाया गया है कि कौन लोग भक्ति से वंचित रहते हैं, पाठकों के लिए विशेष ध्यान देने के योग्य हैं।

यह विश्वास है कि पुस्तक जिस सदुद्देश्य से लिखी गई है, पाठक-गण उसका ध्यान रखते हुए अधिक-से-अधिक, इससे लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। पुस्तक वास्तव में प्रचार-योग्य है। इन्हीं कुछेक शब्दों के साथ पुस्तक पाठक के सम्मुख रखी जाती है।

फिल्टर बेड, गुलबर्गा
२७ मई, १९३९

—नारायण स्वामी

□

२

निवेदन

जीवन के उस आरम्भिक काल में जबकि साधारण बालक रात की काली चादर ओढ़कर माँ की मीठी थपकियों में सो जाना पसन्द करते हैं, मैं उन नीरव-निस्तब्ध रातों में, जब सब लोग सो जाते थे, गायत्री माँ की लोरियाँ सुना करता था। बच्चों के लिए खेल-कूद भी बहुत आकर्षण रखते हैं, परन्तु मेरे लिए तो यही आकर्षण सबसे बढ़कर रहा कि मैं गायत्री माँ की मृदुल गोद में खेला करूँ।

मैं खिन्न रहता था—संसार से निराश! आठ-नौ वर्ष की अल्पायु में ही मैंने अनुभव किया कि मेरा जीना निरर्थक है। संसार की कोई सूनी छोर खोजकर मैं रोया करता और अपनी मूक भाषा में अपने गाँव से परे दीखती उन काली पहाड़ियों से पूछता—मेरे से कोई भी क्यों प्रसन्न नहीं है? अध्यापक, मित्र, सगे-सम्बन्धी और दूसरे क्यों मेरे साथ प्रेम-व्यवहार नहीं करते? वे पहाड़ियाँ निर्जीव थीं, निश्चल और निष्प्राण। वे मेरे प्रश्न का उत्तर न दे सकती थीं, न देतीं। परन्तु एक दिन मेरी सजल आँखों को देखकर, मेरे मुर्झाये चेहरे को देखकर स्वर्गीय स्वामी नित्यानन्द जी ने, जो उन दिनों हमारे गाँव 'जलालपुर जट्टाँ' में पधारे थे, मुझसे इसका कारण पूछा।

मैंने कहा—"मेरा जीना निरर्थक है। मुझसे कोई भी प्रसन्न नहीं। किसी भी विषय में मेरा प्रवेश नहीं। ऐसे जीने का लाभ?"

स्वामी जी ने मेरे टूटे दिल को ढाढ़स बँधाया। मुझे आश्वासन देते हुए बोले—"निराश न हो। हम तुम्हें एक उपाय बताते हैं। उसका

सेवन करो। तुम्हारे संतप्त हृदय को शान्ति मिलेगी, सब शोक और विघ्न-बाधाएँ दूर हो जायेंगे।"

मैंने बालू के कणों में पानी की मिठास का अनुभव किया। इस अन्धकारमय संसार में उज्ज्वल ज्योति का मधुर आभास पाया। मैंने तिनके का सहारा लेते हुए कहा—"बताइये, आपकी अनुकम्पा!" और जब उनकी आज्ञानुसार मैं कागज़ का एक पन्ना ले आया तो स्वामी जी ने उस पर गायत्री-मन्त्र लिख दिया। गायत्री-मन्त्र मुझे पहले ही कण्ठस्थ था, किन्तु उस दिन उसे देखकर मेरी आँखें एक अद्‌भुत ज्योति से चमक उठीं।

तब उन्होंने मुझे इसके अर्थ बतलाते हुए कहा—"जब घर के सब लोग सो जायँ, तब उठकर इस मन्त्र का जाप किया करो।"

इस घटना को आज लगभग ४४ वर्ष हो चुके हैं, किन्तु मुझे एक ऐसा दिन स्मरण नहीं, जबकि मैं गायत्री माँ की पवित्र गोद में न बैठा हूँ। इस जाप से मेरे निराश हृदय को आशा मिली, मेरे खिन्न चित्त को रस मिला और मुझ अशान्त को शान्ति का महासागर! ज्यों-ज्यों मैं इस मन्त्र का जाप करता गया, मेरी रुचि प्रभु-भक्ति की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्रत्येक मन्त्र मेरे ऊपर अपना नया रंग छोड़ता गया और धीरे-धीरे मैं उसमें इतना रँग गया कि मुझे संसार की किसी दूसरी वस्तु में उससे अधिक आकर्षण नहीं दीख पड़ा।

भगवान् की अपार कृपा से मेरा जन्म ऐसे माता-पिता के घर में हुआ, जो सच्चा आर्य-जीवन व्यतीत करनेवाले प्रभु-भक्त हैं। उनके शिक्षण और पोषण ने मेरे अन्दर प्रभु-भक्ति का भाव कूट-कूटकर भर दिया। इस पर भी जो कृपा हुई, तो मुझे इस संसार-यात्रा में जीवन-सङ्गिनी भी प्रभु-भक्ति के रङ्ग में रँगी हुई एक देवी ही मिली। विवाह के पश्चात् मेरे भक्ति-भाव को इस देवी ने और भी तीव्र कर दिया। सहधर्मिणी के बाद सन्तान भी प्रभु-भक्त ही मिली। मैं तो चारों ओर से प्रभु-भक्ति और प्रभु-विश्वास से ओत-प्रोत हो गया। और जब

१९०७ में श्री पूज्य महात्मा हंसराज जी के साथ संसर्ग हुआ तो प्रभु-प्रेम पर एक और अनोखा रंग चढ़ गया। इसके पश्चात् मुझे जो सम्बन्धी मिले, जो धर्मपुत्र और धर्मपुत्री भी मिले, ये भी प्रभु के सच्चे भक्त। इसी प्रकार मुझे मित्र भी वही मिले जो प्रभु-भक्ति के रंग में रँगे हुए थे।

ऐसा अनुकूल वातावरण पाकर प्रभु-भक्ति का रंग दिन-प्रतिदिन गूढ़ ही होता चला गया। जीवन में समय-समय पर परिवार, सम्बन्धियों तथा मित्रों की ओर से पूर्ण सुभीता होने से मुझे इस मार्ग पर अग्रसर होने में बड़ी सहायता मिली। और जब मेरे भाग्योदय की घड़ी निकट आ पहुँची तो फिर गुरु भी अचानक ही मिल गये। उन्होंने स्वयं मेरा हाथ थाम, मुझे भगवान् के सम्मुख बिठाकर उसकी झलक दिखा दी। जब कभी भी मैं एकाकी होकर अपने जीवन की अद्‌भुत घटनाओं पर विचार करता हूँ तो मुझे इन सबके भीतर मेरी प्रिय माता 'वेद-माता' का ही हाथ निहित नज़र आता है। मैं कुछ भी नहीं हूँ सिवाय इसके कि गायत्री माँ की कृपा का पात्र हूँ। मैंने जो कुछ भी पाया है, उसी के आशीर्वाद से पाया है।

यह कथा वर्णन करने का अभिप्राय यही है कि वे बालक-बालिकायें, युवक-युवतियाँ तथा वृद्ध-वृद्धायें, और जो मेरी तरह आतुर और आकुल हो रहे हों, मेरे जीवन की इस सत्य रामकहानी से कोई लाभ उठा सकें। वे ठोकरें खाने की बजाय एक निश्चित और सफल मार्ग की ओर अग्रसर हों।

हैदराबाद के धार्मिक संग्राम के सम्बन्ध में डेढ़ वर्ष के लिए कारा-गार में आकर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस जेलयात्रा का 'प्रसाद' अपने भाई-बहनों को क्या दूँ? सौभाग्य से जिस जेल (गुलबर्गा जेल) में मैं बन्दी था, उसी जेल में श्री पूज्य महात्मा नारायण-स्वामी जी महाराज भी बन्दी थे। उनके सत्सङ्ग में रहते हुए और प्रतिदिन उपनिषदों के रहस्य सुनते हुए मेरी अन्तरात्मा से यही ध्वनि प्रतिध्वनित हुई कि 'प्रभु-भक्ति' का ही प्रसाद उपयुक्त होगा। लेकिन

मैं प्रसाद देनेवाला कौन ? मेरे पास रक्खा ही क्या है ? यह तो उसी की कृपा का प्रसाद है। उसी की आज्ञा से आपके सम्मुख रख रहा हूँ। अच्छा लगे—न लगे, भाये—न भाये, यह प्रेम की भेंट है, स्वीकार कीजिये !

सेंट्रल जेल, गुलबर्गा
प्रथम वैशाख, १९९६
१३ अप्रैल, १९३९

भक्तों के चरणों की रज-समान
खुशहालचन्द

□

३

रामकहानी

लगभग ३३३ वर्ष पूर्व इतिहास की एक करुणाजनक घटना क्या फिर घटेगी ? क्या एक बार फिर प्रभु-भक्त सन्त तुकाराम की भाँति मुझे भी अनशन करना होगा ?—यह प्रश्न तब मेरे सामने उपस्थित हुआ, जब गुलबर्गा सैंट्रल जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मेरी पुस्तक वापस देने में आनाकानी की। वह घटना इस प्रकार है—यह पुस्तक तैयार हो चुकी थी। जेल में ही श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी ने प्रस्तावना भी लिख दी। एक दिन जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब आये और कहने लगे—"आपने जो पुस्तक लिखी है, वह मुझे दें ताकि देख लूँ कि उसमें क्या लिखा है। दूसरे, जेल में पुस्तक लिखने की आज्ञा नहीं है।" मैंने कहा—"जब पुस्तक लिखना आरम्भ किया था, तब आपको मैंने बता दिया था और उसके बाद कई बार मैंने आपको बताया कि पुस्तक लिखा जा रहा है। यदि आज्ञा न थी तो उस समय मुझे क्यों नहीं रोक दिया गया ? दूसरे, जेलों में पुस्तक लिखे ही जाते रहे हैं। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' जेल ही में तो लिखा था ! श्री लाला लाजपतराय ने भी 'भारत का इतिहास' धर्मशाला जेल में लिखा था और पण्डित जवाहरलाल जी ने भी विश्व-इतिहास के सम्बन्ध में एक बड़ा पुस्तक नैनी जेल ही में तो लिखा ! परन्तु रियासत हैदराबाद के रंग अनोखे हैं।" लेकिन वह 'प्रभु-भक्ति' यह कहकर ले गये कि देखें, उसमें क्या लिखा है। मैंने कहा—"केवल ईश्वर की भक्ति के सम्बन्ध में लिखा है।" उन्होंने यह भी कहा कि वह उसे अपने ही पास सुरक्षित रखेंगे।

पूर्वोक्त बात को पाँच सप्ताह हो चुके थे। छठा सप्ताह भी जा रहा था और पुस्तक मुझे वापस नहीं मिली। तब मैंने एक दिन सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि 'प्रभु-भक्ति' की पाण्डुलिपि मुझे वापस मिलनी चाहिए। परन्तु इसका उत्तर यह मिला कि पुस्तक हैदराबाद के बड़े दफ्तर में भेज दी गई है। मैंने कहा—"आपने तो अपने ही पास रखने का वचन देकर वह पुस्तक ली थी ?" तभी वह हाकिमाना लहजे में बोले—"आपने पुस्तक लिखी ही क्यों ? इसकी आज्ञा न थी; अब आपसे कलम भी ले ली जायेगी।" यह सुनकर और यह विचार-कर कि मेरी पुस्तक 'तलफ़' कर दी जायगी, उसी समय मेरी आँखों के सामने आज से लगभग ३३३ वर्ष पहले का एक दृश्य उपस्थित हो गया।

यही दक्षिण देश था। यहीं भगवान् के एक प्यारे सन्त तुकाराम रहते थे। उन्होंने भगवान् की भक्ति की तरङ्ग में कितने ही भजन लिख डाले। उन्हें 'अभङ्ग' का नाम दिया जाता है। उन भक्तों ने सारे महा-राष्ट्र में धूम मचाई। भक्त लोग झूम-झूमकर गाते और नाचते। परन्तु एक 'आँख' को प्रभु-प्रेमियों का यह संगीत नहीं भाया। उसने एक नीचतापूर्ण चाल चलकर संत तुकाराम के भजनों की सारी पुस्तकें उससे ले लीं और कह दिया कि पुस्तकें इन्द्रायणी नदी में फिकवा दी गई हैं। सन्त तुकाराम के हृदय पर इससे गहरी चोट लगी। उनका दिल टूट गया। वह इन्द्रायणी नदी के तट पर एक मन्दिर के सामने बैठ गये और प्रतिज्ञा कर ली—'जब तक मेरी सारी पुस्तकें मुझे नहीं मिलेंगी, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' प्रभु के प्यारे ने अनशन आरम्भ कर दिया। एक-एक करके बारह दिन बीत गये। अन्त में तेरहवें दिन जब उनकी अवस्था बहुत बिगड़ने लगी तो उनकी पुस्तकें उन्हें वापस दे दी गईं।

यह दृश्य मेरी आँखों के सामने विद्युत् के समान आया और चला गया। मैंने जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब से कहा—"आपने अपना वचन भंग किया है, आपने पुस्तक केवल अपने पास रखने और देखने के लिए

ली थी। उसे हैदराबाद भेजकर आपने उचित नहीं किया। और मेरी कलम ले लेने की जो बात कही है, उसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं। मैं आज ही से सब सुभीतों पर लात मारता हूँ और एक साधारण कैदी की तरह रहना शुरू करता हूँ। और आपसे यह कहे देता हूँ कि आज तेरह जुलाई है, यदि मेरी पुस्तक १९ जुलाई तक न दी गई तो मैं बीस जुलाई से अनशन-व्रत करके अपने प्राण त्याग दूँगा। मैं ऐसे लोगों के रहम पर जीना पसन्द नहीं करता, जो अपना वचन-भंग करते हैं और प्रभु-भक्ति की पुस्तक को भी ज़ब्त कर लेते हैं।" यह कहकर मैंने अपने वस्त्र तत्काल उतार डाले और जेल के भगवे वस्त्र पहन लिये। सोने के लिए भूमि पर ही टाट बिछा लिया और भगवान् से प्रार्थना करने लगा।

मेरे साथ सहानुभूति रखते हुए सत्याग्रही लाला मुरलीलाल जी रिटायर्ड सैशन जज पंजाब और महाशय ठाकुरदास जी वानप्रस्थी हलदौर-निवासी ने भी ऐसा ही किया। पूर्ण अनशन बीस जुलाई से करना था, लेकिन मैंने उसकी तैयारी चौदह तारीख से आरम्भ कर दी। मैं ज्वार की रोटी के केवल पाँच ग्रास २४ घण्टों में खाता। पाँचों प्राणों को सन्तुष्ट करने के लिए 'ओम् प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा' कह पेट के हवनकुण्ड में पाँच आहुतियाँ डाल देता। एक, दो, तीन, चार, पाँच दिन इसी प्रकार बीत गए। मैंने तैयारी के उन दिनों में देख लिया कि जेल-निवास से, जेल के रद्दी भोजन और प्रतिकूल जलवायु से जो नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं, उनसे जो निर्बलता हो गई है, उसे सम्मुख रखकर अनशन आरम्भ करने के पश्चात् दस या पन्द्रह दिन तो मैं जीवित रह ही सकूँगा। छठा दिन भी आ पहुँचा। हवन-यज्ञ के पश्चात् मैंने अपने सत्याग्रही कैदियों से निवेदन किया कि वे मुझे अकेले ही अनशन करने दें। यदि वे भी अनशन करेंगे तो मुझे बहुत कष्ट होगा। उस दिन भी अपने पेट को खाली रक्खा। इस प्रकार से ये दिन अनशन में ही गुज़रे। परन्तु सुपरिण्टेण्डेण्ट को यह पता था कि भूख-हड़ताल

बीस तारीख को आरम्भ होगी। उन्नीस जुलाई सायंकाल के समय जबकि मैं अपनी कोठरी में बैठा प्रभु का भजन कर रहा था तो महात्मा नारायण स्वामी जी ने मुझे बाहर बुलाया। सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब भी पास ही बैठे थे। मेरी पुस्तक की पाण्डुलिपि उनके हाथ में थी। मैं करीब गया तो उन्होंने वह मुझे लौटा दी। इसी प्रकार लगभग ३३३ वर्ष के पश्चात् दक्षिण देश में एक बार फिर तुकाराम की बात स्मरण हो गई।

मैंने जेल में तीन बार भूख-हड़ताल की और प्रभु-कृपा से तीनों बार मुझे सफलता प्राप्त हुई। बाकी दो का सम्बन्ध 'प्रभु-भक्ति' से नहीं था, सत्याग्रहियों के कष्टों का निवारण करने और उनसे जेलवालों के अमानुषिक व्यवहार का विरोध करने से था। अतएव उनका वर्णन नहीं करता।

सैण्ट्रल जेल गुलबर्गा
२० जुलाई, १९३९

भक्तों का दासानुदास
खुशहालचन्द

□

४

असार संसार

असार है यह संसार, और फिर यह शरीर तो सर्वथा क्षणभंगुर है। जो श्वास आता है, उसके जाते समय कोई नहीं कह सकता कि फिर यह लौटकर आयेगा या यही अन्तिम श्वास सिद्ध होगा। यजुर्वेद का स्वाध्याय करते हुए जब मैं पैंतीसवें अध्याय पर पहुँचा और इसके बाइसों मन्त्रों का पाठ किया तो मेरी आँखें खुल-सी गईं। भगवान् ने हमें इस संसार में क्यों भेजा? जीव को यहाँ आकर क्या करना चाहिए? जन्म और मृत्यु क्या है? मरकर क्या गति होती है? कुछ ऐसी समस्याएँ मेरे सामने उपस्थित हो गईं, जिन पर कभी विचार करने की आवश्यकता ही न पड़ी थी। परन्तु इस अध्ययन ने मुझे बाधित कर दिया कि मैं इन पर विचार करूँ। इसी अध्याय का चौथा मन्त्र है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽ इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥

"कल-पर्यन्त संसार रहे न रहे, ऐसे अनित्य संसार में तुम लोगों की स्थिति है, और पत्ते के तुल्य चंचल शरीर में भगवान् ने तुम्हारा निवास किया है। परन्तु, तुम इन्द्रियों ही के दास हो! परमात्मा की भक्ति करो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा!" स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए लिखा है—"मनुष्यों को चाहिए कि अनित्य-शरीरों और पदार्थों को प्राप्त होके क्षणभंगुर जीवन में धर्माचरण के साथ नित्य परमात्मा की उपासना कर आत्मा और परमात्मा के संयोग से उत्पन्न हुए नित्य सुख को प्राप्त हों!"

क्या काँगड़ेवालों को ज्ञात था कि उनके लिए पाँच अप्रैल की प्रातः आयेगी या नहीं ? बिहार के लोग दिन के समय अपने कामों में संलग्न थे। कोई दुकान पर बैठा था, कोई बाज़ार में जा रहा था। माँ अपने बच्चे को दूध पिला रही थी। भोले बालक आराम से खेल-कूद रहे थे। सब अपने कार्यों में मग्न थे; परन्तु तभी एक ऐसा झटका आया, जिससे सहस्रों मृत्यु की गोद में सो गये। विशाल अट्टालिकाएँ भूमि पर लोटनें लगीं, हँसते बालक रो उठे और बाज़ारों की सफ़ाई की गई तो साइकिलों पर सवार लाशें मिलीं। उन्हें इतना भी समय न मिला कि वे साइकिलों से उतर ही सकें। सब जहाँ-के-तहाँ ही मृत्यु के ग्रास बन गये। जिन दिनों खुदाई का काम हो रहा था, उन दिनों मैं वहीं था। मेरे सामने जब एक मकान की खुदाई की गई तो दो लाशें एक-साथ निकलीं। माँ बच्चे को गोदी में लिये स्नान करा रही थी। साबुन की टिकिया उसके हाथ में थी, किन्तु जब मौत आई तो इतना भी नहीं हुआ कि साबुन ही नीचे रख सकती। ठीक तो कहा है—

क्या भरोसा है जिन्दगानी का, आदमी बुलबुला है पानी का।

क्या क्वेटावाले जानते थे कि उनके भाग्य में क्या लिखा है ? उन्तीस जुलाई की रात को कितनी उमंग, कितने उल्लास, कितनी स्कीमें और कितने ही प्रोग्राम मन में बनाकर वे सोये थे। कितनों ने पहली रात विवाह के कंगन पहले थे। कितनी ही देवियों ने विवाह की मेंहदी लगाई थी। परन्तु रात्रि के घने अन्धकार में भूकम्प के एक ही झटके ने सब आशाओं पर पानी फेर दिया। सुन्दर नगर मिट्टी का ढेर बन गया। सैकड़ों मर गये और सहस्रों रोने के लिए जीवित रह गये। किस बात पर मनुष्य इतना इतराता है और क्या सोचकर इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ कामां में नष्ट करता है ? अरे मन ! कभी तूने इस पर विचार किया कि—

खबर नहीं घड़ी एक की, नहीं इक पल की आस।
ना जाने इस जीव का, भोर कहाँ हो वास॥

वृक्ष के पत्ते की भाँति यह शरीर कब टूटकर गिर पड़ेगा, यह

कोई नहीं कह सकता। फिर जब तक वह वृक्ष के साथ जुड़ा हुआ है, तब तक इसका सदुपयोग क्यों न कर लिया जाय ? क्यों रे मन, कहो क्या इच्छा है ? इस अल्प काल में, जिसमें से कितना ही समय बचपन में व्यतीत हो गया, कितना ही सोने में गुज़र गया, कितना ही रोगों और उनकी निवृत्ति में लग गया, कितना ही शरीर-रक्षा में चला गया, और कितना ही विषय-वासनाओं की पूर्ति में नष्ट हो गया, क्या करने का निश्चय है ? कौन जानता है श्वास अभी समाप्त हो जाने हैं या कुछ समय पश्चात् ? तू इस शेष काल को भी खो देना चाहता है या इसका अच्छा उपयोग करना चाहता है ? जीवन का उद्देश्य तो तुझे भगवान् बता चुके हैं और वह है "भक्ति", अनित्य शरीर में रहते हुए दो नित्य ज्योतियों का मिलाप—आत्मा और परमात्मा का योग। कितने सुन्दर शब्दों में हमारे पूर्वजों ने युवकों तथा युवतियों को सावधान किया है !

> यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो।
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः॥
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य्यः प्रयत्नो महान्।
> संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ?

"जब तक शरीर स्वस्थ है, जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति कम नहीं हुई है, आयुष्य भी क्षीण नहीं हुआ है, तब तक बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि अपने कल्याण का प्रयत्न भली-भाँति करे। घर में आग लगने पर कुआँ खोदना कैसा !"

पत्थरों से भरी नदी

यजुर्वेद के पैंतीसवें अध्याय के दसवें मन्त्र में कहा गया है—

> अश्मन्वती रीयते सँ रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
> अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

"पत्थरों से भरी हुई संसार-रूपी यह नदी बही चली जा रही है। हे मित्रो ! (इससे पार उतरने के लिए) कमर कसो, उठो और पार उतरकर ही दम लो। दुःखदायी जो बन्धन हैं, उनको यहीं छोड़कर

कल्याणप्रद सच्चे बल, आत्म-बल के भरोसे इसके पार उतर चलो। कितने फिसलने पत्थर हैं इस सागर में! ज़रा ध्यान चूका और फिसल गये।"

भर्तृहरि इस नदी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

> आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णा तरंगाकुला।
> रागग्राहवती वितर्क - विहगा धैर्य्यद्रुमध्वंसिनी॥
> मोहावर्तसुदुस्तरातिगहनो प्रोत्तुङ्गचिन्ता तटी।
> तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

"आशा नाम की इस नदी में मनोरथ-रूपी जल भरा है। इसमें तृष्णा-रूपी लहर और राग-रूपी मगर हैं। नाना प्रकार के तर्क-वितर्क पक्षी हैं। यह नदी धैर्य-रूपी पेड़ उखाड़ देती है। मोह ही इसके कठिन भँवर हैं, और चिन्ता-रूपी इसके ऊँचे किनारे हैं। इस नदी को शुद्ध मननशील योगी ही पार कर आनन्द को प्राप्त होते हैं।"

अरे मन! इसी किनारे बैठा तू खेल खेल रहा है। सारे साथी पार जा रहे हैं। ऊपर से काली रात आ पहुँची है और तू पाप की गठरी अधिक भारी करता चला जा रहा है! भारी गठरी उठाकर कैसे पार उतर सकेगा? जिन विषयों को तू सुख और आनन्द देनेवाला समझे बैठा है, क्या यह तेरे काम आयेगा? नादान, ये तो यहीं के बखेड़े हैं। तू कुछ भी साथ नहीं ले-जा सकता। न धन, न सम्पत्ति, न कोई मोटर, न कुछ और। हाँ, जिन खेलों में तू पड़ गया है, वे तेरी पाप की गठरी को भारी अवश्य बना देंगे और जब तू इस नदी को पार करने लगेगा तो वे बाधा बनकर तुझे दुःख देंगे।

अरे मन! तू प्रतिक्षण गठरी में बोझ बढ़ाता ही चला जा रहा है। उठ, छोड़ इन खेलों को! एक-एक क्षण जो बीत रहा है, अनमोल है, फिर नहीं मिलेगा—

> दूर प्यारे की पुरी है, दिन किनारे आ चुका।
> चल, नहीं तो इस झमेले में पड़ा पछताएगा॥

अतएव जो भी और जितना भी समय पास रह गया है, इसे अब धर्माचरण और प्रभु-भक्ति में लगाना चाहिए। एक क्षण के लिए भी मन को अब छुट्टी न दे जिससे वह हमें हमारे जीवनोद्देश्य से विमुख न होने दे।

ऋग्वेद के पहले मण्डल में १६४वें सूक्त के जो ३७ और ३८वें मन्त्र हैं उनमें भी बड़ी सुगमता से अपने-आपको पहचानने और अनित्य शरीर से लाभ उठाने की बात कही गई है—

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
(ऋ० १-१६४-३७)

"मैं नहीं जानता, मैं कौन वस्तु हूँ। मैं जो एक रहस्य बना हुआ हूँ, अब मन के साथ पूरा तैयार होकर चल रहा हूँ। जब ऋत (सृष्टि-विज्ञान) का बड़ा भाई आत्मविज्ञान मुझे प्राप्त होगा, तभी मैं इस वाक् (वेद) का भेद पाऊँगा।"

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥
(ऋ० १-१६४-३८)

"अमर आत्मा इस मरनेवाले शरीर के साथ रहता हुआ, माया के वशीभूत हुआ नीचे और ऊपर जाता है (उच्च-नीच योनियों में घूमता है)। अमर और मरनेवाला, दोनों साथ रहते हुए भी सदा भिन्न गति-वाले रहते हैं। इनमें से लोग एक को देखते हैं, दूसरे को नहीं।" इस अमर जीवात्मा और मरनेवाले शरीर का सम्बन्ध इसलिए किया गया है ताकि यह 'अमर' दूसरे महाअमर को जो आनन्दस्वरूप है, पा सके। यह शरीर प्रभु को पाने का एक साधन ही है। यदि इस साधन को साध्य समझ लिया जाय और इसीकी पूजा आरम्भ कर दी जाय तो क्या गति होगी और उस आत्मा का क्या बनेगा, जिसने हम पर भरोसा किया! इसका यह प्रयोजन नहीं कि शरीर की सर्वथा अवहेलना कर दी जाय। ऐसा नहीं! यह तो दुर्लभ है। इसी का तो ज्ञान सबसे पहले

प्राप्त करना है। यही तो प्रभु-मन्दिर है। इसी की तो पूर्णरूपेण रक्षा करनी चाहिए। इसे भली प्रकार सजाना और खिलाना चाहिये। यह जितना स्वस्थ तथा पुष्ट होगा, उतना ही शीघ्र यात्री को प्रभु-दर्शन करा सकेगा। क्या टूटी मोटर मालिक को यथास्थान पहुँचा सकती है? वह तो मार्ग में ही उसे पटक देगी। क्या मरियल टट्टू सवार को घर पहुँचायेगा? नहीं, वह तो उसे भयावने जंगल ही में छोड़ देगा। सवारी अच्छी ही होनी चाहिये। इसीलिए भक्त प्रार्थना करता है—

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम।।
(ऋ० १०-१२८-१)

"हे अग्नि-स्वरूप प्रभो! जीवन के संग्रामों में मेरे अन्दर तेज और चमक हो। तुम्हारी ज्योति को जगाते हुए हम शरीर को पुष्ट करें। चारों दिशाएँ हमारे आगे झुक जायँ। आप हमारे अध्यक्ष बनें ताकि सब प्रकार के विरोधी वर्ग को हम पराजित कर सकें।"

इसलिए शरीर का स्वस्थ और पुष्ट होना नितान्त आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है।

मैं यह भी नहीं कहता कि शरीर को संसार के भोगों से वंचित रखिये। नहीं, जितने भोग भोगे जा सकते हों भोग लें, परन्तु यह स्मरण रखिये—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

"मैंने विषयों का भोग नहीं किया किन्तु विषयों ने ही मुझे भोग लिया। मैंने तप न किया, पर तपों ने ही मुझे तप डाला। काल नहीं बीता, हम ही बीत गये। हमारी तृष्णा बूढ़ी न हुई, हम ही बूढ़े हो गये।"

हमने भोग न भोगा, भोगों ने भुगताया हमें कहीं।
हमने तप नहीं किया, तपों ने हमें तपाया न्यून नहीं।।

काल न बीता बीते हम ही, किया व्यर्थ ही जग-व्यवहार।
तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, हम गलपत पहुँचे अन्त किनार ।।

तेन त्यक्तेन—

सांसारिक भोगों के भोगने से कोई रोकता नहीं है, न ही कोई यह कहता है कि सब-कुछ छोड़कर अकर्मण्य हो जाओ, गार्हस्थ्य आश्रम त्यागकर किसी वन में जा बैठो। कभी कोई आपको यह उपदेश न देगा कि संसार के बन्धनों, झंझटों और कष्टों से घबराकर भीरु बन जाओ। कहने का तात्पर्य यह है कि यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को सदा सम्मुख रक्खो—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

"तप-त्याग से उपभोग कर, मत ललचा, (ज़रा सोच तो सही) यह धन किसका है?" त्यागभाव से भोग कीजिये। मैं आजकल निज़ाम-सरकार की गुलबर्गा जेल में कैदी हूँ। इस जेल के वार्ड नम्बर ८ में रहता हूँ। अब यह वार्ड मेरे ही नाम से विख्यात हो गया है। महात्मा नारायण स्वामी जी जिस वार्ड में रहते हैं, वह भी उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। राजगुरु पं० धुरेन्द्र शास्त्री Segregation-ward में रहते हैं, परन्तु अब उसे सेगरेगेशन वार्ड नहीं कहा जाता, शास्त्री जी का वार्ड कहा जाता है। सब सत्याग्रही जेल के भगवे रंग के कपड़े पहनते हैं, जेल के 'तसले' में दाल लेते हैं, 'चम्पू' में पानी पीते हैं, जेल का टाट और कम्बल नीचे बिछाते हैं, जेल की इन सब वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, परन्तु इन्हें अपना नहीं समझते। अपनी कैद के दिन गुज़ारकर हम चल देंगे और ये लम्बे कमरे, ये बरतन, ये टाट और कम्बल यहीं छोड़ जायेंगे। जब हमें मुक्त किया जायगा तो हम इन वस्तुओं से लिपट-लिपटकर रोयेंगे थोड़े ही! अपितु प्रसन्नता से इन्हें छोड़कर जेल से चले जायेंगे। इसी को कहते हैं 'त्यक्तेन भुञ्जीथा'। एक उदाहरण देखिये—एक यात्री यात्रा के दिनों में किसी धर्मशाला अथवा सराय में ठहरता है। वहाँ कुछ घण्टे अथवा कुछ दिन

रहता है। वहाँ के सारे पदार्थ प्रयोग करता है। पलँग पर सोता है, वर्तनों में खाना पकवाता है, कुर्सियों पर बैठता है, साथ ही वाटिका से पुष्प लेता है, फल खाता है, दूसरे यात्रियों से वार्तालाप करता है, खेलता है, किन्तु उसके मन में यह कभी नहीं आता कि मैं इन सब वस्तुओं का स्वामी हूँ और मैं इन सबको उठाकर साथ लेता चलूँ। वह उन वस्तुओं का भोग तो करता है परन्तु उनमें लिप्त नहीं हो जाता; अपने-आपको न उसका स्वामी समझता है, और न ही उनका दास। स्वामी-भाव और दास-भाव, इन दोनों से ऊपर रहता है। यदि उसने लोभ किया तो फँस गया, पकड़ा गया और जकड़ा गया।

मन लोभ करे भी तो क्यों ? आखिर यह धन है ही किसका ? क्या रावण का यह धन था ? क्या कंस इसका स्वामी था ? क्या औरंगज़ेब और क़ारूँ के पास यह था ? मुग़ल बादशाहों का यह वना या किसी और का ? किसी का भी नहीं भोले यात्री, किसी का भी नहीं ! यह तो केवल भगवान् का है। तू इसे कितना एकत्र कर लेगा और क्या ऐसा करने से तू सुखी हो सकेगा ? यदि ऐसा होता तो आधुनिक काल का सबसे बड़ा धनी अमेरिकन अपने-आपको सबसे बड़ा दुःखी न बतलाता। मिस्टर हेनरी फोर्ड के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसकी वार्षिक आय २४०००००० डॉलर है अर्थात् ८०००० पौंड या सोलह लाख रुपया दैनिक। इस समय उसके पास नकद तथा सम्पत्ति ४८ करोड़ पौंड की है। परन्तु उसका धन उसे कोई विशेष सुख नहीं दे रहा। इसलिए केवल धन सुख का कारण नहीं।

इसका अर्थ यह नहीं कि मैं धनोपार्जन के विरुद्ध हूँ। उतना धन कमाइये, जितना धर्म तथा न्याय से कमा सकते हैं। पाप से धनोपार्जन न कीजिये और दूसरों का अधिकार छीनकर मत समझिये कि आप सुखी हो सकेंगे। अथर्ववेद कहता है—

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्वानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ (४-१८-३)

'जो पाप करके, उसके द्वारा दूसरे को हानि पहुँचाना चाहता है

(वह भूल कर रहा है, शीघ्र ही) बहुत-से पत्थर उसके सिर पर फट-फटकर गिरेंगे ।'

पाप करनेवाले को इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि वह दूसरों को धोखा देकर स्वयं ही बचा रहेगा । समय आनेवाला है, जब ये पाप पत्थर बनकर उसका सिर फोड़ देंगे; इसलिए धन के लिए पाप न कीजिये; इसे एकत्र तो कर लीजिये, लेकिन इसी को अपना प्राण न समझ लें । इसी के साथ बिक मत जाइये ।

तैरने और डूबनेवाली नौकाएँ—

नदी के किनारे खड़े होकर आपने देखा होगा कि नदी में कुछ नौकाएँ तैर रही होती हैं और कुछ डूबी हुई । मैं नौका का विरोधी नहीं हूँ और न ही उसके तैरने का विरोध करता हूँ । मै हूँ विरोधी उनके डूब जाने का । उनके तैरने और डूब जाने का क्या कारण है ? तैरनेवाली नौकाओं में छेद न होने के कारण उनमें पानी आ नहीं सकता । छोटा-मोटा छेद होने से जो पानी सूराख की राह अन्दर आ भी गया, उसे बाहर फेंका जा सकता है। इसलिए ऐसी नौकाएँ न केवल स्वयं तैरती हैं अपितु दूसरे यात्रियों को भी पार ले जाती हैं । जो डूब गई हैं, उनमें छेद हो जाने से इतना पानी भर गया है कि वे अपने को पानी से ऊपर न रख सकीं । इसलिए अब न स्वयं तैरने के योग्य रही हैं और न दूसरों ही को पार ले जाने में समर्थ हैं । धन की नदी में छलाँग लगाने में कोई हानि नहीं । खूब धन कमाइये, परन्तु ध्यान रखिये कि धन का पानी मन में न जाने पाये । यदि यह चला गया तो फिर डूबना ही होगा । धन में हम तैरें; धन हमारे ऊपर न तैरने लगे । बस, इतनी-सी बात से जीवन बिगड़ने की बजाय सुधरने लगता है । तब धन देखकर मोह या लोभ पैदा नहीं होता; और जब मोह नहीं तो फिर आनन्द-ही-आनन्द है, सुख-ही-सुख है । एक बार एक शिष्य ने अपने गुरु से प्रश्न किया—'सुख किसे प्राप्त होता है ?'

गुरु ने उत्तर दिया—'जिसका हृदय शान्त है ।'

'हृदय किसका शान्त है ?'

'जिसका मन चंचल नहीं।'
'मन किसका चंचल नहीं ?'
'जिसे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं।'
'अभिलाषा किसे नहीं है ?'
'जिसे किसी वस्तु में आसक्ति नहीं।'
'आसक्ति किसे नहीं ?'

गुरु जी ने शान्त-स्निग्ध मुद्रा से कहा—'जिसकी बुद्धि में मोह नहीं है।'

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह।
जिनको कछु ना चाहिये, सोई शाहन शाह॥

यह सब-कुछ स्पष्ट हो जाने और यह मालूम हो जाने पर कि संसार असार है और जिस शरीर में हमें रक्खा गया है, वह भी क्षणभंगुर है, हमारा कर्त्तव्य यह हो जाता है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस संसार और इस शरीर से जितना लाभ उठा सकें उठायें, और वह लाभ यही है कि अपनी मनोवृत्ति भगवान् के भक्तों की-सी बनायें—

श्वास-श्वास पर ओम् कह, वृथा जन्म मत खोय।
क्या जाने इस श्वास को, आवन होय न होय॥

भगवान् की भक्ति में खोकर, शान्त और शीतल मन से ज़रा ध्यान लगाकर सुनिये—कवि कितने मधुर, आकर्षक स्वर में आपको चेता रहा है—

सुमिरन कर मन ओम् नाम
दिन नीके बीते जाते हैं !
पाप-गठरिया सिर पर भारी, पग नहीं आगे जाते हैं।
मात-पिता पति कुल धन दारा, संग नहीं कोई जाते हैं।
दुनिया दौलत माल खज़ाना, काम नहीं कुछ आते हैं।
सुमिरन कर मन ओम् नाम
दिन नीके बीते जाते हैं !

□

५

परमगति कैसे मिलेगी

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्धन्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।
(गीता ८,१२-१३)

"सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर (अर्थात् इन्द्रियों को विषय से हटाकर) तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करके, योगधारण में स्थित हुआ, जो पुरुष ओ३म् इस एक अक्षर-रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसी का चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।"

परन्तु यह अवस्था अन्त समय में तभी प्राप्त हो सकती है जब जीवन-काल में इसका अभ्यास किया हो । अतएव सारा काम छोड़कर भी इसका अभ्यास करो ।

□

दुःखों का नाश कैसे होगा ?

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।
श्वेता० ६-२०

जब लोग चर्म की नाईं आकाश को लपेट सकेंगे, तब प्रभु के जाने बिना दुःख का अन्त होगा ।

□

६

भगवान् का मन्दिर

ज्यूँ तिल माहीं तेल है, ज्यूँ चकमक में आग।
तेरा प्रभु तुझमें बसे, जाग सके तो जाग॥

यह तो भगवान् का मन्दिर है। पता नहीं इसे मनुष्य-शरीर का नाम क्यों दिया गया है। यही वह स्थान है, जहाँ सचमुच परमात्मा के दर्शन किये जा सकते हैं। निस्सन्देह, परमात्मा सर्वव्यापक है। संसार के अणु-अणु में वह इसी प्रकार रमा हुआ है, जैसे हर वस्तु में अग्नि विद्यमान है। अग्नि का किसी भी स्थान पर आह्वान कीजिये, उसे प्रकट करने के साधन एकत्रित कीजिये, वह प्रकट हो जायेगा। परन्तु परमात्मा हर स्थान और हर वस्तु में होते हुए भी हर जगह दृष्टि-गोचर नहीं हो सकता। उसके दर्शन केवल इस मन्दिर में ही हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि परमात्मा को देखनेवाला नेत्र केवल इस मन्दिर के ही भीतर खुलता है। परमात्मा और जीवात्मा का मिलाप यहीं भली-भाँति होता है। यहीं होता है संगम इन दोनों का। यही है वह मन्दिर, जिसके सब बाह्य द्वार बन्द कर जब मन भीतर बैठ एकाग्र और निर्विषय हो जाता है, तब वह प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है, जिसे देखने की उत्कण्ठा तथा लालसा आत्मा को इस बन्दी शरीर में ले आती है। इस ज्योति को देखने से कैसा आनन्द प्राप्त होता है—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो वह स्वाद है, जिसे स्वयं ही अनुभव किया जा सकता है। किसी के बतलाने का न यह विषय है और न बतलाया ही जा सकता है।

ऋषि वास्कलि एक बार योगेश्वर श्री वाधव के योगाश्रम में पहुँचे और प्रार्थना की—"भगवन् ! सच्चिदानन्द परब्रह्म का स्वरूप आपने देखा है, उसका वर्णन कीजिये कि वह स्वरूप कैसा है ?"

वाधव महाराज चुपचाप बैठे रहे, कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद ऋषि वास्कलि ने फिर वही प्रश्न किया ! अब भी वे चुप्पी ही साधे रहे। तीसरी, चौथी बार भी यही प्रश्न किया और उत्तर भी वही—मौन ही मिला। बार-बार एक ही प्रश्न दोहराते हुए जब वास्कलि ऋषि उकता गये तो कहने लगे—"मेरी जिज्ञासा का उत्तर देकर मेरे तप्त-हृदय को आप शान्त क्यों नहीं करते ?" तब योगेश्वर वाधव कुछ मुस्कराकर बोले—"अरे वास्कले ! तेरे प्रश्नों का उत्तर तो साथ ही साथ तत्काल देता रहा हूँ। यदि समझ में न आये तो इसमें मेरा क्या दोष ? भाई ! स्वरूप कोई वाणी से बतलानेवाली वस्तु नहीं। यहाँ तो सब वाणियाँ पहुँचकर मौन साध लेती हैं और जब लौटकर आती हैं तो कुछ बोलने में असमर्थ होती हैं। इस 'गूँगे के गुड़' का स्वाद कैसे बतलाया जाये ? और निश्चय ही यह विवाद इस मन्दिर ही में मिलता है, संसार की और किसी वस्तु में नहीं !"

छान्दोग्य-उपनिषद् के अन्तिम प्रपाठक के आरम्भ में 'ब्रह्मपुर' का वर्णन किया है। ब्रह्म तो सर्वत्र है और सर्वव्यापक है, फिर उसकी कोई पुरी कैसे हो सकती है ? हाँ, यह मनुष्य-शरीर ही उसकी नगरी है, इसी में ब्रह्म को पहचाननेवाला रहता है। छान्दोग्य के इन शब्दों पर ध्यान दीजिये, ऋषि कहता है—

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुरण्डीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः।
तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

"यह जो ब्रह्मपुर (शरीर) है इसमें एक छोटा-सा (हृदय) कमल का मन्दिर है, इस मन्दिर के पीछे एक छोटा-सा आकाश है। इस आकाश के भीतर जो कुछ है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।" यही 'कमल का मन्दिर' भक्त और भगवान् का मिलन-स्थान है और वह इसी ब्रह्मपुर या शरीर के ही अन्दर है,

इसी स्थान पर उसकी खोज करनी होती है। इसी स्थान का नाम वह 'गुहा' है, जिसके सम्बन्ध में यजुर्वेद कहता है कि 'वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा' अर्थात् ज्ञानी पुरुष उस सत् ब्रह्म को हृदय की गुहा में निहित देखता है। यही बात अथर्ववेद के दूसरे कांड के पहले ही मन्त्र में कही है—

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ॥

"योगी उसे परमगुहा में देखता है। यहाँ सारा विश्व एकरूप हो जाता है, अर्थात् भक्त के लिए फिर प्रभु के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु देखने योग्य नहीं रहती।" यही है वह ब्रह्मपुर, जिसका उल्लेख मुण्डक-उपनिषद् में शब्दों में किया गया है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यात्र महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥

"जो सबको जानता है और सबको समझता है, जिसकी इस भूमि पर (प्रत्यक्ष) महिमा है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर (हृदय) हृदयाकाश में रहता है।"

स्वर्ग भी इसी को कहा जाता है। स्वर्ग संसार का कोई विशेष स्थान नहीं है अपितु इसी शरीर के अन्दर ही वह स्वर्ग विद्यमान है।

वेद भगवान् ने तो स्वर्ग का बहुत ही सुन्दर और विस्तृत विवरण दिया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥

"यह देवताओं का दुर्ग, जिसके आठ चक्र और नौ द्वार हैं और जिसको जीतना दुष्कर है, उसमें ज्योति से भरपूर स्वर्ग है और उसी में सुनहरी कोश है। यह आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली अयोध्या नगरी है।" यह यूरोप, अफ्रीका, एशिया, भारत अथवा अन्तरिक्ष लोक या द्युलोक में तो कहीं दिखाई नहीं देती, अपितु यह नगरी हर देश, हर ग्राम और हर घर के अन्दर देखी जा सकती है। वह है मनुष्य-शरीर।

मनुष्य-शरीर ही में नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो नासिकाएँ, दो कान, एक मुख, दो मल-मूत्र त्यागने के स्थान—ये नौ द्वार इस नगरी के स्पष्ट दिखाई देते हैं। और आठ चक्र—वे इसी शरीर में हैं। हठयोग के विद्वानों का कथन है कि इस शरीर में निम्न आठ चक्र हैं। इनके द्वारा प्राण ऊपर चढ़ता हुआ ब्रह्म-द्वार में प्रवेश कर सकता है—

१. मूलाधार चक्र २. स्वाधिष्ठान चक्र
३. मणिपूरक चक्र ४. अनाहत चक्र
५. हृदय चक्र ६. विशुद्ध चक्र
७. आज्ञा चक्र ८. ब्रह्म चक्र

पहला चक्र गुदा स्थान पर है, दूसरा पेडू में, तीसरा नाभि में, चौथा हृदय के निकट, पाँचवाँ हृदय के अन्दर, छठा कण्ठ में, सातवाँ भ्रू-मध्य में और आठवाँ शिखा के नीचे।

जब ब्रह्म के दर्शन करने होते हैं तो इस नगरी के बाहर के सब द्वार बन्द करके इन आठ चक्रों में से होकर स्वर्ग के अन्दर पहुँचना होता है। तब वहाँ ज्योति दिखाई देती है और वहीं अपने परमप्रिय का दर्शन होता है।

मन्दिर की सफ़ाई—

वेद भगवान् तथा उपनिषद् ने जब बतला दिया कि मनुष्य का शरीर ही भगवान् का मन्दिर है, फिर किसी आस्तिक को इसमें सन्देह नहीं रह जाता और निश्चय ही मैं यह निवेदन केवल आस्तिक भक्तों के ही सम्मुख रख रहा हूँ। भगवान् के इस मन्दिर में पूजा और भक्ति के लिए जाने से पूर्व अत्यन्त आवश्यक है कि मन्दिर की सफ़ाई की जाये। पूजा-पाठ का स्थान स्वच्छ ही होना चाहिए। सफ़ाई दो प्रकार की है बाह्य और भीतरी। बाह्य सफाई स्वच्छ जल इत्यादि से हो जाती है, परन्तु भीतरी सफ़ाई के लिए विशेष प्रयत्न करना होता है। उसके कुछ नियम ये हैं—

प्रातः ४ बजे बिस्तर से अवश्य उठ जाने का नियम बना लेना

चाहिए, और फिर शौच आदि से निवृत्त होकर दाँत साफ़ करने चाहिएँ। फिर व्यायाम, आसन इत्यादि करने चाहिएँ जिससे शरीर बिल्कुल थक तो न जाये; परन्तु इसके प्रत्येक अंग में स्फूर्ति अवश्य आ जाए। फिर स्नान करना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो स्नान के पश्चात् व्यायाम करने का नियम बनाया जा सकता है। पेट की सफाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि वैसे पेट भली-भाँति साफ न हो तो भोजन में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहिए, जिससे पेट साफ़ हो जाये। जिनका पेट ठीक तरह साफ़ नहीं होता उनको हाथ की चक्की से पिसे हुए मोटे आटे की रोटी खानी चाहिए। हरी तरकारियों का प्रयोग अधिक करना चाहिए, दूध अधिक पीना चाहिए और घी में भुनी हुई हरीतकी (हरड़) का सेवन करना चाहिए। जिनका पेट इन वस्तुओं से भी साफ़ न हो, वे फिर महीने में एक-दो बार वस्ति (अनीमा) कर लिया करें।

नाड़ी-शुद्धि—

पेट की शुद्धि के पश्चात् नाड़ी-शुद्धि की बारी आती है और इसके लिए नाना प्रकार के प्राणायाम बताये गए हैं। भस्त्रा[1] प्राणायाम से नाड़ियों के मल नाश होते हैं।

रेचक, कुम्भक, पूरक से धारणा-शक्ति बढ़ती है और छोटी-छोटी तथा अति सूक्ष्म नाड़ियों के दोष दूर होते हैं, परन्तु आरम्भ करने से पूर्व इनकी विधि सीख लेनी चाहिए। हाँ, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्राणायाम सीखते-सीखते कहीं किसी दम्भी के जाल में न फँस जायँ। आजकल योग-विद्या के नाम पर काफ़ी ठगी हो रही है, और सभ्य

---

१. जिस प्रकार धौंकनी में वायु भरी और निकाली जाती है, उसी प्रकार भस्त्रा होता है। नासिकाओं के द्वारा पहले शनैः-शनैः और फिर तेजी के साथ जल्दी-जल्दी श्वास लिये जाते हैं। एक समय में दस मिनट से अधिक भस्त्रा नहीं करना चाहिए और केवल ऐसे स्थान पर बैठकर भस्त्रा का अभ्यास करना चाहिए, जहाँ की वायु शुद्ध हो और गर्मी अधिक न हो।

समाज में भी कुछ ऐसे लोग घुस आए हैं, जिन्होंने कितने ही प्रभु-प्रेमियों को सदा का रोगी-सा बना दिया है। ये लोग हठयोग के ऐसे प्रयोग करते हैं जिनसे भगवान् के इस मन्दिर का सत्यानाश हो जाता है। अतएव उनसे बचना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् के मन्दिर की सफ़ाई का अर्थ यह नहीं कि मन्दिर ही को गिरा दिया जाए। 'योग-दर्शन' के साधनपाद में लिखा है—"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोतर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता है।" इसी प्रकार भगवान् मनु ने भी लिखा है कि—"जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होता है, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के सब दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।"

मन की शुद्धि—

नाड़ी-शुद्धि के अतिरिक्त मन की शुद्धि भी आवश्यक है। उपनिषद् में बताया है कि मन अन्न से बनता है। वैसे तो सारा शरीर ही अन्न से बनता है, परन्तु शरीर अन्न के स्थूल भाग से बनता है और मन सूक्ष्म भाग से। जिस भावना अथवा जिस साधन से अन्न कमाया जाएगा, उसका सूक्ष्म प्रभाव मन पर अवश्य पड़ेगा। यदि अन्न कमाने में झूठ, दम्भ, मक्कारी या पर-पीड़ा को काम में लाया गया है तो उस अन्न के खानेवाने के मन पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। यह प्रभाव शीघ्र ज्ञात हो या न हो, परन्तु किसी-न-किसी समय यह प्रभाव जागरित होकर मनुष्य को वैसे ही कर्म करने पर बाधित कर देता है, यह निश्चित बात है। वह खोटे अन्न का ही तो प्रभाव था, जिसने भीष्म-पितामह जैसे व्रतधारी बाल-ब्रह्मचारी को विवश कर दिया कि वह सत्य और न्याय का पक्ष छोड़कर अत्याचारी दुर्योधन का साथ दे। भीष्म पितामह ने स्वयं महाभारत में अन्न के इस प्रभाव को माना है। इसलिए मन की शुद्धि के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हमारा अन्न शुद्ध हो, यह धर्म तथा अपने बाहुबल से कमाया गया हो।

इसके साथ अन्न ऐसा खाया जाय जो विकार पैदा करनेवाला न हो, तामसिक न हो। जो लोग लाल मिर्च अथवा कॉफ़ी का अधिक प्रयोग करते हैं और मांस-मद्य इत्यादि अभक्ष्य खाते हैं उनके स्वभाव में कड़वापन बढ़ जाता है, सहनशीलता कम हो जाती है और उनका मन अधिक चंचल हो उठता है। वे देर तक एक ही आसन में बैठ नहीं सकते। इटली के भक्त पाइथागोरस (Pythagoras) का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य-मन का निर्माण उन वस्तुओं पर निर्भर है, जो भोजन द्वारा उसके पेट में जाती हैं। महर्षि दयानन्द ने इसीलिए मद्य-मांस का निषेध स्थान-स्थान पर किया है।

मन की शुद्धि का पूरा उपाय यह है कि इसको बुरे संकल्पों तथा विचारों से अलग रक्खा जाए। मन एक ऐसी शक्ति है, जो कभी भी चुपचाप होकर बैठ नहीं सकती। इसीलिए इसे गीता में "चंचल तथा प्रमथन स्वभाव वाला" कहा गया है। यह निश्चल तो होगा नहीं, इसे विचारों से शून्य करने के लिए भी बहुत लम्बा समय लगेगा। इसलिए पहले मन को शुभ-संकल्पों में लगाना चाहिए। यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में इसीलिए छः ऐसे मन्त्र आये हैं, जिनमें बारम्बार यही प्रार्थना है कि **"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** अर्थात् मेरा मन सदा शिव-संकल्पवाला हो।

जब सत्संकल्प तथा सुविचार मन में लाए जाएँगे तो फिर खोटे विचार मन में कोई स्थान न पाकर स्वयमेव लौट जाएँगे—

प्रीतम-छवि नैनन बसी, पर-छवि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

ब्रह्मचर्य—

इस प्रकार जब मन्दिर के बाहर और भीतर की सफ़ाई हो जाती है, तब इस मन्दिर में बैठकर भगवान् की आराधना का अधिकार भक्त को प्राप्त हो जाता है, तब वह प्रभु-भक्ति के महान् द्वार में प्रवेश करता है, तब वह उपासक बनता है, प्रभु के समीप बैठता है, और

भगवान् के निकटतर हो जाता है। परन्तु इन सब बातों के साथ यह आवश्यक बात सदा अपने सम्मुख रखनी चाहिए कि प्रभु-मन्दिर की नींव ब्रह्मचर्य है। लोग अपने शरीर के वास्तविक तत्त्व और जौहर को बाहर फेंकते हैं और इसकी रक्षा नहीं करते। वे अपनी इस नादानी पर रोएँगे। वे क्षणिक, झूठे तथा 'कल्पित आनन्द' के लिए अपना अनमोल रत्न गँवा रहे हैं। वे अपने हाथों से अपने पाँव पर कुल्हाड़ा चलाकर अपना सत्यानाश कर रहे हैं। वीर्य शरीर में मन और प्राण ही को नहीं, अपितु आत्मा को भी शक्ति देनेवाली वस्तु है। इस शरीर में आत्मा को यदि कुछ प्राप्त हो सकता है तो वीर्य ही से। आत्मा है सूक्ष्म, वह किसी स्थूल वस्तु को तो ग्रहण करेगा नहीं, सूक्ष्म को ग्रहण करेगा, और यह वीर्य ही है। जब इसका भण्डार शरीर में जमा हो जाता है तो इसका फिर इत्र खिचता है और उससे ओज पैदा होता है। यह ओज एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे आत्मा ग्रहण करता है और महाबलवान् होकर ओजस्वी बन जाता है, परमात्मा की मित्रता का अधिकारी बनकर उसके बराबर बैठने के लिए कहता है—

ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।

अतएव, प्रभु-मन्दिर के इस मूल तत्त्व की ओर विशेष ध्यान देना होगा। स्थूल भोजन या अन्न का किस प्रकार सूक्ष्म तत्त्व बनता है, उसकी विधि यह है—

जो अन्न खाया जाता है सबसे पूर्व इसका रस बनता है। रस फिर रक्त में परिवर्तित हो जाता है। रक्त का इत्र खिंचता है तो फिर मांस बनता है, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य। इस वीर्य की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। यदि इसे शरीर में सँभालकर रक्खा जाय, बुरे विचारों, गन्दी कहानियों और अश्लील सिनेमाओं से बचाया जाय और इसका रुख नीचे की बजाय ऊपर की ओर किया जाय, तब यह वीर्य बहुत देर के पश्चात् परिपक्व होकर 'ओज' बनने लगता है। ओज भी दो प्रकार का होता है। एक 'पर ओज', दूसरा 'अपर ओज'। यह ओज अन्त में सूक्ष्म हो जाता है और

आत्मा के काम आता है। वेद भगवान् ने तो ब्रह्मचर्य को भी प्रभु-प्राप्ति का बड़ा साधन बताया है और स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है कि जो गृहस्थी नियमानुकूल चलते हैं और मर्यादा में रहते हैं, उनकी गणना भी ब्रह्मचारियों में ही होती है।

अतएव वीर्य की बहुमूल्यता को आँकते हुए इसे अपनी आत्मा के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

यही है भगवान् के मन्दिर का मूल-तत्त्व। इसके गिरने से मन्दिर गिरने लगता है और जब मन्दिर गिरने लगे तो पुजारी का सर्वनाश सामने प्रलय-ताण्डव करने लगता है। इसलिए पूरे यत्न से इसकी रक्षा करनी चाहिए।

□

७

प्रभु-भक्ति

"जो मनुष्य सत्य, प्रेम, भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष-सुख देकर सदा के लिए आनन्दयुक्त कर देगा।" —दयानन्द

'सत्यार्थप्रकाश' के सातवें समुल्लास में स्वामी जी लिखते हैं— "जो उपासना आरम्भ करना चाहे, उसके लिए यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रखे, सर्वदा सबसे प्रीति करे, सत्य बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो।"

यह तो हुई उपासना की तैयारी; परन्तु उपासना किस प्रकार करनी चाहिए—इसका वर्णन महर्षि इस प्रकार करते हैं—

"जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि-प्रदेश में, हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर, अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ पहर में एक घड़ी-भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।"

यजुर्वेद के एकादश अध्याय के पाँचवें मन्त्र का भावार्थ लिखते हुए स्वामी दयानन्द जी ने यह बतलाया है कि—

"योगाभ्यास के ज्ञान को चाहनेवाले मनुष्यों को चाहिए कि योग में कुशल विद्वानों का संग करें, उनके संग से योग की विधि को जान-के ब्रह्म-ज्ञान का अभ्यास करें। जैसे विद्वान् का प्रकाशित किया हुआ मार्ग सबको सुख से प्राप्त होता है वैसे ही योगाभ्यासियों के संग से योग-विधि सहज में प्राप्त होती है। कोई भी जीव संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के बिना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः योग-विधि के साथ ही सब मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें।"

तात्पर्य यह है कि योग-विधि के बिना उपासना अथवा भक्ति नहीं हो सकती और न ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। योगविधि क्या है? यह योगदर्शन[1] में बताया गया है। यदि कोई भक्त यह समझे बैठा है कि यम-नियमों का पालन किये बिना और आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को प्रयोग में लाए बिना ही

---

१. योग के आठ अंग बताए गए हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

यम—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय (चोरी न करना), ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह (भोग-साधनों को इकट्ठा करने का लोभ न करना)।

नियम—१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय, ५. ईश्वरप्रणिधान (सब काम ईश्वरार्पण)

आसन—सिद्ध, पद्म, सुख-आसन आदि।

प्राणायाम—बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तराक्षेपी।

प्रत्याहार—इन्द्रियों को निर्विषय धारण करना।

धारणा—मन का मस्तकादि प्रदेश में ईश्वर के चिन्तन में बँध जाना।

ध्यान—धारणा का ईश्वर के आनन्द में लगातार बने रहना।

समाधि—ध्यान करनेवाले, ध्यान व भगवान् का एक हो जाना। भक्त, भक्ति और भगवान् का फिर कोई भेद नहीं रहता।

वह प्रभु-दर्शन कर लेगा, तो वह भूलता है। थोड़ा-बहुत जितना भी हो सके, इन साधनों की भट्टियों में से भक्त या उपासक को गुज़रना ही पड़ता है। महर्षि दयानन्द 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में लिखते हैं—"यह उपासना-योग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कर्मों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े या सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।"

जब तक मन यम-नियमों की मंज़िलें तय नहीं करता, तब तक भक्ति का अधिकार ही प्राप्त नहीं होता। मन की वृत्ति इस प्रकार की हो जानी चाहिए कि उसमें हिंसा के भाव न आएँ, वह चोरी का चिन्तन भी न करने पाए, सत्य और ब्रह्मचर्य पर आरूढ़ रहे, लोभ में न फँसे और शौच, सन्तोष तथा तप से अपनी वृत्ति भक्तों की-सी बना ले। ऐसी वृत्ति बनाने में ईश्वर पर पूर्ण भरोसा, उसी की इच्छा पर रहने का स्वभाव डालना और वेद, उपनिषद्, गीता आदि का स्वाध्याय बहुत सहायक होते हैं।

इसके पश्चात् आसन की बारी आती है। कितने ही आसन तो केवल शरीर-रक्षा के लिए हैं और कुछ मन को एकाग्र करने के निमित्त। पद्म-आसन और सिद्ध-आसन विशेष रूप से प्रयोग में आते हैं। परन्तु आप चाहे किसी भी आसन में बैठें, सुख से बैठें और वह आसन ऐसा हो जिसमें आप बिना थकान के कम-से-कम साढ़े तीन घण्टे बैठ सकें। कोई एक आसन ग्रहण कर लीजिये और उसी में शरीर को बिना हिलाये कम-से-कम साढ़े तीन घण्टे प्रतिदिन बैठने का अभ्यास कर लीजिये। मन को स्थिर करने से पूर्व शरीर को काबू करने की आवश्यकता है। जिसका शरीर ही वश में नहीं, उसका मन कदापि काबू में नहीं होगा। एक ही आसन में निरन्तर साढ़े तीन घण्टे निश्चल बैठने के अभ्यास के साथ प्राणायाम का भी अभ्यास करना चाहिए।

महर्षि ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के उपासना[1] विषय में लिखा है—"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना हो सके उतना बाहर ही रोक दें। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेकर पुनरपि ऐसे ही करें। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर हैं, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगाया जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए।

शरीर आसन से स्थिर हो गया, प्राण प्राणायाम से स्थिर हो गया, तो फिर मन का स्थिर हो जाना स्वाभाविक हो जाता है क्योंकि प्राण के साथ ही मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्राणायाम—

प्राणायाम आरम्भ करने से पहले दोनों नासिकाओं को स्नान कराना आवश्यक है। नासिका-स्नान की विधि यह है कि हाथ पर या लोटे में जल लेकर नासिकाओं में श्वास द्वारा ऊपर खींचना चाहिए और फिर जल नीचे फेंक देना चाहिए। इस प्रकार पाँच-छः बार कर लेने से नासिकाएँ स्वच्छ हो जायेंगी और बलगम कम हो जायेगा। प्राणायाम भी तभी भली-भाँति हो सकेगा।

आसन में बैठकर कमर और गर्दन सीधी रखनी चाहिए। बहुत अधिक तनकर भी नहीं बैठना चाहिए। पहले बायें स्वर से श्वास ऊपर खींचकर दायें स्वर से छोड़ देना चाहिए। तब दायें से ऊपर खींचकर बायें से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सात-आठ बार करने के पश्चात् दोनों स्वरों से प्राण अन्दर ले-जाइये और नाभि तक अच्छी तरह भर

१. श्री महात्मा नारायण स्वामी का 'योग रहस्य' देखिये।

लीजिये और आसानी के साथ जितना रोका जा सकता है रोकिये। तब एकाएक ऐसे, जैसे वमन किया जाता है, नासिकाओं द्वारा ही प्राण को बाहर फेंक दीजिये और पेट वायु से सर्वथा खाली कर दीजिये। पेट वायु से खाली करते समय नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। प्राण बाहर फेंककर फिर इन्हें बाहर ही रोके रहिये। जब मन घबराने लगे तो धीरे-धीरे प्राण अन्दर भर लीजिये। प्राणायाम का सबसे सुगम तरीका यही है। इसी में बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम हो जाते हैं। यह प्राणायाम बिना किसी से सीखे भी किया जा सकता है। इससे आगे फिर किसी सच्चे वीतराग गुरु की शरण लेनी आवश्यक है।

प्राणायाम से जब प्राण स्थिर होने लगता है और प्राण के साथ मन भी चंचलता छोड़ने लगता है, तो इन्द्रियाँ स्वयं ही काबू में आ जाती हैं। इसी को प्रत्याहार कहते हैं।

अब धारणा और ध्यान की बारी आती है। धारणा के लिए हृदय में अथवा भ्रू-मध्य में मन को स्थिर कीजिये और इसका सुगम उपाय यह है कि हृदय अथवा भृकुटि में मन ही से ओम् के अर्थ की चिन्तना कीजिये और इसी का मानसिक जप कीजिये, जिसमें न जिह्वा हिले, न कण्ठ, केवल मन ही से जाप हो।

जब यह अवस्था प्राप्त हो जाये तो समझिये कि ध्यान लगने लगा है। ऐसी अवस्था में एक ऐसा आनन्द प्राप्त होगा, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आपका मन यही चाहेगा कि घण्टों इसी अवस्था में बैठे रहें। जब आप दूसरे सांसारिक काम करेंगे, तब भी अन्दर से यही प्रेरणा होगी कि चलो अब प्रिय-दर्शन करें। तब आपकी आँखें सजल हो उठेंगी और आपके मुख से अकस्मात् निकल पड़ेगा—

जी चाहता है फिर वही फ़ुरसत के रात-दिन,
बैठे रहें तसव्वुरे-जानाँ किये हुए।

इससे आगे की अवस्था का वर्णन कुछ असम्भव-सा है; उसे समाधि कहते हैं। भक्त-शिरोमणि योगिराज भगवान् दयानन्द ने इस अवस्था

का वर्णन इन शब्दों में किया है—"जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्नि-रूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करनेवाला, जिसके द्वारा ध्यान हो रहा है, जिसका ध्यान हो रहा है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं; परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द-स्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है; वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है।"

इसी अवस्था को प्राप्त कर लेनेवाले के लिए तो ईशोपनिषद् में यह कहा गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'जहाँ (पहुँचकर) सब भूत आत्मा ही हो गया, वहाँ एकता को देखते हुए विज्ञानी को क्या शोक है? और वहाँ पर शोक और मोह रह ही कैसे सकते हैं, जहाँ सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द का स्रोत बह रहा हो!' वहाँ तो सारे झंझट समाप्त हो जाते हैं, हर ओर आनन्द-ही-आनन्द दिखाई देता है। दुई जाती रहती है। अब एक ही आनन्दघन रह जाता है। अथर्ववेद के दूसरे काण्ड के पहले सूक्त का पहला ही मन्त्र है—

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥

'विद्वान् उस परमात्मा को गुहा (हृदय की गुफ़ा) में देखता है, जहाँ विश्व एकरूप हो जाता है। यह पृथिवी भी व्यवहार के अयोग्य हो जाती है। तत्त्वज्ञानी बाकी जगत् को भी व्यवहार में आने के अयोग्य समझता है।' अर्थात् जिस समय भक्त प्रभु-चिन्तन में हृदयस्थ होकर मग्न हो

जाता है, तब उसके लिए समस्त जगत् एकरूप प्रतीत होता है, और यह सब-कुछ व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगता है। प्रभु-चिन्तन में वह इतना लवलीन हो जाता है कि इनकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। केवल आनन्दघन ही उसके सामने रह जाता है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् की तो यही पुकार उठी है—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

'जब वह युक्त होकर आत्म-तत्त्व के दीपक से उस ब्रह्मतत्त्व को देख लेता है, जो अजन्मा, अटल और सारे तत्त्वों से शुद्ध, निखरा हुआ है, तब वह उस देव को जानकर सारी फाँसों से छूट जाता है।'

लेकिन यह स्मरण रखिये कि जितनी शीघ्रता से ये बातें कह दी गई हैं, उतनी शीघ्रता से होती नहीं। इसमें बहुत लम्बा समय लग जाता है। इसलिए पूर्ण श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम से इन पर आचरण करना होगा। आलस्य को त्यागकर निम्न आचरण कीजिये—

१—रात को यदि तीन बजे उठ सकें तो अच्छा है, अन्यथा चार बजे अवश्य उठ जाइये और एक घण्टा ओम् अथवा गायत्री का जाप कीजिये। स्वामी जी के जीवन-चरित्र में लिखा है कि कलकत्ते में एक बार पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने स्वामी जी से पूछा—'ईश्वर से मिलने का क्या उपाय है?' स्वामी जी ने कहा—'बहुत दिन तक योग करने से ईश्वर की उपलब्धि होती है।' तब उन्होंने पूछा—'वह योग कैसा है?' उत्तर में स्वामी जी ने अष्टांग योग की व्याख्या करके सुनाई और उपदेश दिया कि 'तीन घड़ी रात रहे उठकर गायत्री का अर्थसहित ध्यान किया करो।' जो भी लोग स्वामी जी के साथ रहते थे, उन्हें वे सदा प्रातःकाल उठने का उपदेश देते थे।

२—पाँच बजे स्नान से निवृत्त होकर प्राणायाम कीजिये। पहले एक-एक नासिका से, फिर दोनों नासिकाओं से बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम कीजिये। इसके पश्चात् भस्त्रा प्राणायाम करें और तब शान्त होकर भृकुटि अथवा हृदय में ध्यान लगायें।

इसका विधि पहले लिखी जा चुकी है।

३—ध्यान के समय ओम् का जाप भी करते रहें।

४—तब सन्ध्या-हवनादि करें।

५—दोपहर को, या दिन में जब भी कोई समय मिले तो गायत्री-मन्त्र और ओम् का जाप कर लिया करें।

६—गायत्री मन्त्र तथा ओम् का मन्त्र इन दो ही के जपने का विधान वेद में है। महर्षि दयानन्द ने भी इनका ही आदेश दिया है।

यजुर्वेद अध्याय १३ मन्त्र ५४ में गायत्री मन्त्र के उपांशु जाप से हर प्रकार के सुख की प्राप्ति का वर्णन है और यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में परमात्मा ने ओम् जपने की आज्ञा दी है। अनुभव यह बतलाता है कि दोनों के एक-साथ जपने से लोक-परलोक दोनों सुधरते हैं और मन तथा बुद्धि की एकाग्रता प्राप्त होती है। गायत्री का जाप प्रातः पूर्व की ओर मुख करके करना चाहिए।

□

८

मन की बात

भगवान् के मन्दिर में प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक नाड़ी काम आने-वाली है। नाड़ियों[1] द्वारा ही उपासना करनी होती है। परन्तु इन सब में सर्वोपरि मन है और सच पूछिये तो यह मन की ही कृपा है कि हम इस शरीर में बैठे हैं। प्रश्न-उपनिषद् में तीसरा प्रश्न यही है कि यह इस शरीर में कैसे आता है? इसका उत्तर उपनिषद् ने यह दिया है—

मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे।

अर्थात् मन के काम से यह शरीर में आता है—"जो मन से शुभ-अशुभ संकल्प किये जाते हैं, उनके कारण से यह शरीर में आता है।"

महाभारत में भी यही कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

"मन ही मनुष्य के बन्धन का और मन ही मनुष्य के मोक्ष का कारण है।"

वेद भगवान् ने तो सबसे पहले यह आदेश किया है कि मन के बिना कोई भी काम नहीं किया जा सकता—

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० ३४-३)

---

१. उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। सित इड़ा और असित पिंगला—ये दोनों जहाँ मिल जाती हैं, उसको सुषुम्णा कहते हैं। उसमें योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाता है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

यही है वास्तव में कुञ्जी सब कर्मों की। यदि यह हाथ में आ जाय तो सब-कुछ मिल जाता है। निस्सन्देह, परमात्मा तक मन की भी पहुँच नहीं, परन्तु यह एक प्रमाणित सत्य है कि प्रभु-निवास के द्वार तक पहुँचा भी यही सकता है। इसकी शक्ति बहुत बड़ी है और श्री शंकराचार्य जी ने तो इसकी महिमा और भी बढ़ा दी है। किसी ने प्रश्न पूछा—

"जितं जगत् केन ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"मनो हि येन !" अर्थात् संसार को किसने जीता ? जिसने मन पर विजय पा ली। छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ७ खण्ड ३ के आदि ही में यह कहा गया है—मनो ह्यात्मा मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति—"मन निस्सन्देह आत्मा है, अर्थात् मन ही लोक तथा ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। लोक-परलोक दोनों मन ही से सिद्ध होते हैं।" ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में एक सुन्दर मन्त्र है जिसमें यह आदेश किया है कि—

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्।
(ऋ० ५-३०-४)

'हे ईश्वर की इच्छा करनेवाले ! यदि तू समर्थ होकर मन को स्थिर करे तो तू अकेला ही बहुतों को भी युद्ध के लिए जीत सकता है—पर्याप्त है।'

मन की इतनी बड़ी महिमा है। चाहे इस लोक का अभ्युदय प्राप्त करना हो, चाहे ब्रह्मलोक में पहुँचना हो, दोनों के लिए मन का स्थिर करना अनिवार्य है।

इसके साथ यह सदा सम्मुख रखिये कि मन और शुक्र अर्थात् वीर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'हठयोग-प्रदीपिका' में एक बड़ा मार्मिक श्लोक आता है—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥

"मनुष्यों का शुक्र (वीर्य) चित्त के अधीन है अर्थात् चित्त के चलायमान होने पर वीर्य भी चलायमान हो जाता है, इसमे शुक्र मन के वशीभूत है; और मनुष्यों का जीवन शुक्र के अधीन है अर्थात् शुक्र की स्थिरता से जीवन, और शुक्र की नष्टता से मरण होता है, इसलिए जीवन शुक्र के अधीन है। इसलिए यह आवश्यक है कि शुक्र और मन की भली प्रकार यत्न से रक्षा करे।" इसका प्रयोजन यही है कि यदि जीवन की कामना है तो मन को स्थिर रखने का प्रयत्न करो।

ऐसा है वह मन जो इस प्रभु-मन्दिर में वास करता है। जब तक इसको अपना साथी अथवा मित्र न बना लिया जाय, तब तक यह बाधक बनकर हमें तंग करता रहेगा और प्रभु-मन्दिर में पहुँचकर भी प्रभु-दर्शन से वंचित रक्खेगा। गंगा में खड़े होकर भी जलपान नहीं करने पायेंगे, प्यासे-के-प्यासे ही रह जायेंगे। इसलिए सबसे पहले मन की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। एक उर्दू कवि ने भी कहा है—

बड़ी नायाब[1] शै है यह दिले-बेताब[2] सीने में।
हज़ारों क़ीमती लालो-गुहर[3] हैं इस दफ़ीने[4] में॥

और एक दूसरे कवि को तो 'दिल' ही भगवान् का निवास-स्थान दिखाई दिया। वह कहता है :—

ख़ानये-दिल[5] में मिले वो जलवागर।
दर-बदर[6] भटका किये जिसके लिए॥

तो इसकी ओर से नेत्र बन्द नहीं किये जा सकते, अपितु पहले इसी की शरण लेनी पड़ती है। यदि मन हाथ में आ गया तो फिर प्रभु के दरबार में बेखटके पहुँचा जा सकता है। यह कार्य कहने को तो सरल है, किन्तु करने को अत्यन्त कठिन है। गीता में अर्जुन भी तो यह पुकार उठा था—"हे महाराज! यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन

---

१. न मिलनेवाली। २. चंचल मन। ३. हीरे-पन्ने-रत्न। ४. खज़ाना। ५. मन के अन्दर। ६. द्वार-द्वार पर।

स्वभाववाला है तथा बहुत दृढ़ और बलवान् है। इसलिए इसको वश में करना मैं वायु की भाँति दुष्कर मानता हूँ।" और कृष्ण भगवान् ने भी यह कहा है कि निस्सन्देह मन बड़ा चंचल और कठिनता से वश में होनेवाला है, किन्तु धैर्य देकर यह भी कहा कि अभ्यास और वैराग्य से यह वश में किया जा सकता है।

पहला साधन—ज्ञान

मन को वश में करने का सबसे पहला साधन है 'ज्ञान'। यदि यह ज्ञान हो जाय कि इस संसार की वस्तुओं की वास्तविकता और मूल्य क्या है, तो फिर यह इनके पीछे मारा-मारा न फिरेगा। जब यह पता मिल गया कि मनुष्य का सौन्दर्य केवल मलमूत्र का परिणाम है तो फिर मन उस सौन्दर्य पर लट्टू क्यों होगा? जब विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया कि हीरा-कोयला एक-जैसे तत्त्वों के बने हुए हैं, तो फिर हीरे की प्राप्ति के लिए मन कोई टेढ़ी चाल नहीं चलेगा। जब ज्ञान हो गया कि यह जो कुछ दिखाई देता है, सब नश्वर है, तो फिर इन खिलौनों के लिए मन दुःखी नहीं होगा, तब विषय-वासना नहीं सतायेगी, तब मोह, लोभ, अहंकार आदि कष्ट नहीं दे सकेंगे। सच ही तो कहा है कवि ने—

मन-पक्षी तब लग उड़े विषय-वासना माँहि।
ज्ञान-बाज की झपट में जब लग आया नाँहि॥

इसकी दौड़-धूप, उछल-कूद तब तक ही है, जब तक इसे सांसारिक वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान नहीं हो जाता। इसलिए सबसे पूर्व मन को समझाइये और उसे कहिये कि देख भाई, जिस सुन्दरता पर तू रीझा है, वह तो पर्दे से ढकी गन्दगी है। उस पर्दे को हटा दे, उस गन्दगी को बाहर आने दे और फिर देख कि तू मुँह फेर लेता है या नहीं? जिस धन के पीछे तू पड़ा है, और जिसके लिए तू नित्य-नये झूठ तथा दम्भ करता है वह भगवान् की नदियों और पर्वतों से निकली हुई धातुएँ ही

तो हैं ! वह मिट्टी और पत्थर ही तो है ! और फिर वे सदा किसी के पास ठहरते नहीं । आज तूने अत्यन्त यत्न से उन्हें इकट्ठा किया, प्रभु-प्रजा को सताकर, अनाथ बच्चों के अधिकार पर छापा मारकर, निस्सहाय विधवाओं के वस्त्र उतारकर, निर्बल लोगों और जातियों पर आक्रमण करके, लाखों मनुष्यों के गले काटकर, निर्धन दुःखी हरिजनों की मेहनत-मज़ूरी-कमाई को टैक्स, कर और दूसरे नामों से लूटकर भोले-भाले, सीधे-सादे प्रभु-प्रेमियों को कई चालों में घेरकर यदि इन ठीकरियों को इकट्ठा कर भी लिया तो क्या विश्वास है इस बात का कि कल तक यह तेरे पास रहेगी या तुझसे अधिक बलवान्, अधिक चालबाज़, अधिक कपटी सब-कुछ छीन न लेगा या तू ही मृत्यु का ग्रास न बन जायेगा ?

इस प्रकार का ज्ञान जब मन को मिलेगा तो फिर वह नहीं हो सकता कि नश्वर सांसारिक पदार्थों के पीछे भटकता फिरे और अपने धर्म से विमुख हो जाय । तब यह धर्माचार पर आरूढ़ हो जायेगा, नेक कमाई की ओर ध्यान देगा और अपने-आपको विषय-वासनाओं से सुरक्षित रक्खेगा । इसके साथ यह भी जानना होगा कि परमात्मा क्या है । यदि इस शरीर में रहते हुए उसे न जाना तो भारी हानि होगी । केन-उपनिषद् में कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।। (२-५)

"यहाँ (इसी जन्म में) ही यदि जान लिया तो ठीक हैं, यदि नहीं जाना तो बड़ा भारी नाश है । अतएव धीर पुरुष सब भूतों में उसको जानकर इस लोक से अलग हो अमृत होते हैं ।"

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् ने भी यही चेतावनी दी है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाभियन्ति ।।
(४-४-१४)

"यहाँ रहते हुए हम उसको जान सकते हैं और यदि मैं यहाँ ज्ञान-हीन रहता तो एक भारी विनाश है। जो उसको जानते हैं वे अमृत होते हैं, पर दूसरे दुःख ही अनुभव करते हैं।"

दूसरा साधन—बुरे संकल्पों की निवृत्ति

ज्ञान-प्राप्ति से मन के नेत्र खुल जाने के पश्चात् भी यह सम्भव है कि किसी अवसर पर 'तमाशा' देखने के लिए ही यह फिसल पड़े। इसलिए दूसरा साधन मन को वश में करने का यह है कि "बुरे संकल्पों से मन को बार-बार रोकें।" यह अभ्यास कुछ समय लेगा। आपने कई बार अनुभव किया होगा कि मकान की सबसे पीछे की कोठरी में बैठे नेत्र बन्द करके जब मन्त्रों का मानसिक जाप करने लगते हैं तो थोड़ी देर बाद आप देखते हैं कि यह हज़रत सब द्वारों को पार करके कहीं-के-कहीं निकल गये हैं और वहाँ अपनी मनमानी में लगे हैं। 'अरे! यह क्या? तुझे तो मन्त्र-जाप पर लगाया था, तू यह क्या करने लगा?' बस, इस प्रकार स्वतन्त्र होने से रोकिये। यह बिना आज्ञा किसी भी संकल्प को हमारे अन्दर न लाने पाय, इसके लिए मन पर कड़ी निगरानी रक्खें। जब भी यह कोई बुरा संकल्प लेकर आये तो तत्काल उस बुरे संकल्प को मन से बाहर निकाल दीजिये। वेद भगवान् में इसके सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर मन्त्र आता है—

परोऽपेहि मनस् पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सञ्चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथर्व० ३-४-१)

"हे मन के पाप! दूर हो जा, भाग जा यहाँ से। यह क्या बुरी बात तू मुझे सिखलाने आया है? जाओ, मुझे तुम्हारी कामना नहीं है। वनों के वृक्षों को जाकर चिपटो, मैं तो अपने मन के घर की सफ़ाई में संलग्न हूँ।" जब भी कभी कोई बुरा संकल्प आने लगे, उसी समय पूरे बल के साथ इस मन्त्र द्वारा उसे बाहर धकेल दीजिये।

एक लड़का बड़ा नटखट था। मुहल्ले-भर के लड़कों से लड़ता-झगड़ता, स्त्री-पुरुष, बच्चों-बूढ़ों सबको सताता। किसी का चरखा तोड़ दिया, किसी का दुपट्टा फाड़ डाला, किसी के चपत लगा दी, वह रोया, वह गिरा, इधर दौड़ा, उधर दौड़ा; भागकर अपने घर आता। लड़के की माता को नित्य ही उलाहने आने लगे। अड़ोसी-पड़ोसी उसकी माता के पास पहुँचे; बोले—"देखो मासी! यह तुम्हारा लड़का इस योग्य नहीं कि मुहल्ले में जाये। इसे अपने ही पास रक्खा करो।" माता ने लड़के को आज्ञा दी कि "बस, अब तुम मेरे निकट बैठे रहो। अब कहीं न जा सकोगे तुम।" लड़का चुपचाप बैठ गया, जैसे बहुत ही आज्ञाकारी और नेक हो। माता ने समझा अब सुधर गया वह, लेकिन जैसे ही वह अपने धन्धे में लगी और लड़के ने देखा कि माता की आँख उधर है, झट खिसकने लगा। अभी दो ही कदम गया था कि माता ने देख लिया—"बैठ यहाँ! कहाँ जाता है? बैठा रह इसी स्थान पर! तू बाहर नहीं जा सकता।" लड़का फिर सुधरे हुए बालकों की भाँति बैठ गया। माता फिर काम में लगी। लड़का ताक में था कि कब अवसर मिले और भाग निकलूँ। माता ने फिर देख लिया—"कहाँ जाता है? बैठा रह यहाँ हो! जब तक तू प्रतिज्ञा नहीं कर लेता कि तू बाहर जाकर किसी को नहीं सतायेगा, तब तक तुझे इसी कैद में रहना पड़ेगा।" लड़का फिर भीगी बिल्ली बनकर बैठ गया। माता अपना तो काम करती ही थी, परन्तु दृष्टि लड़के की ओर रखती थी। अन्त में लड़के की चंचलता दूर हुई और उसने किसी को न सताने की प्रतिज्ञा की। तब माता ने उसे बाहर जाने की आज्ञा दे दी।

इसी प्रकार मन पर कड़ी दृष्टि रखनी होगी। जब तक यह बुरे संकल्पों को छोड़ देने की प्रतिज्ञा नहीं करता, तब तक इस पर कड़ी निगरानी रखने की आवश्यकता है। बार-बार अभ्यास करने से यह मन अपनी चंचलता छोड़ने और-बुरे संकल्पों से दूर रहने पर बाधित हो जाता है।

संकल्प के संस्कार को धोना—

कोई भी भला हो या बुरा संकल्प, उनके अनुसार चाहे कोई वचन बोला जाय या न, कोई कर्म किया जाय या न, परन्तु मन पर अपना थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य छोड़ जाता है। इसी प्रभाव का नाम संस्कार है। इन संस्कारों ही से वृत्ति बनती है और मनुष्य को बुरे या अच्छे कामों में लगाती है। वृत्ति दो प्रकार की होती है--स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल-वृत्ति में काम-क्रोध आदि सम्मिलित हैं और सूक्ष्म-वृत्ति में संस्कार। ये संस्कार ही मनुष्य के अधिक शत्रु हैं। ये जन्म-जन्मान्तर तक साथ रहते हैं। कई बार ऐसा हुआ कि मनुष्य ने जो कर्म इस जन्म में भूलकर भी नहीं किये होते, न देखे और सुने होते हैं, वही कर्म यह मन करने लगता है। जब इसे इस जन्म के संस्कारों से निवृत्त किया तो ऐसे संकल्पों की रेखाएँ मन पर देखी गईं, जिन्हें कभी स्वप्न में भी नहीं देखा था। वास्तव में यह वे सूक्ष्म संस्कार हैं, जो किसी पिछले जन्म में, किसी संकल्प के कारण मन पर रह गये थे। इसलिए कोई भी खोटा या बुरा संकल्प मन में आने ही नहीं देना चाहिए। और यदि बलपूर्वक आ ही जाय तो फिर क्या करें? प्रथम तो उसे तत्काल निकाल देने का प्रयास करना चाहिए और यदि संस्कार की कोई रेखा मन पर रह जाय तो उसे धोकर मिटा डालें। इसकी विधि यह है कि ओ३म् अथवा गायत्री-मन्त्र का जाप किया जाय। मन को शुद्ध करने में गायत्री-मन्त्र का जाप बहुत ही प्रबल सिद्ध हुआ है। परन्तु, मन्त्र के अर्थ भली-भाँति स्मरण कर लेने चाहिएँ। ओम् तथा गायत्री-मन्त्र का जाप न केवल नये-बुरे संस्कारों को, अपितु जन्म-जन्मान्तर के बुरे संस्कारों को भी दूर करने में समर्थ है। यह अनुभूत बात है, इसके लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। संशय-बुद्धि रखनेवाले कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'गायत्री-मन्त्र के जाप का मन की शुद्धि अथवा प्रभु-दर्शन से क्या सम्बन्ध है? इसमें तो सत्-चित्-आनन्द और जगदुत्पादक ईश्वर के दिव्य गुण का ध्यान करके और उसके शुद्ध स्वरूप को सामने रखकर उससे अपनी बुद्धि को प्रकाशित

करने और प्रेरणा करने ही की तो प्रार्थना की गई है ! इससे बुद्धि चमक जाय, और कुछ नहीं हो सकता।' परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि आत्मा के लिए सबसे पहली आवश्यक वस्तु और प्रभु-प्राप्ति का सबसे प्रथम साधन ज्ञान ही है और ज्ञान भी बुद्धि के निर्मल होने ही से प्राप्त होगा। आत्मा के दो काम हैं—ज्ञान-प्राप्ति और प्रयत्न करना। 'योगदर्शन' में भी ब्रह्म-प्राप्ति का सबसे प्रथम साधन प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि ही को बताया गया है। योगदर्शन १, २० में समाधि के साधन बताकर फिर यह दिखाया गया है कि समाधि से प्रज्ञा (बुद्धि) मिलती है। इस सूत्र में समाधि के साधन ये बताये गये हैं। प्रथम—पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए, तब स्मृति-भण्डार खुलता है। इन तीनों बातों के हो जाने से भक्त की अशान्ति का नाश हो जाता है, चित्त शान्त और समाधिस्थ हो जाता है। तब प्रज्ञा-बुद्धि जाग उठती है और यही प्रज्ञा भगवान् के दर्शन कराने में पूरी सहायक बनती है। गायत्री-मन्त्र में बुद्धि देने के लिए इसीलिए प्रार्थना की गई है। योगियों ने योग-विद्या के अनुसार समाधि-अवस्था के पश्चात् जिस ज्ञान को प्राप्त किया, उसे गायत्री-मन्त्र का विधिपूर्वक और पर्याप्त सख्या तथा काल तक जाप करनेवाले पा गये।

गायत्री शब्द दो धातुओं 'गै+त्रा' से बना है अर्थात् गायत्री गानेवाले—जाप करनेवाले को बचाती है, रक्षा करती है, तार देती है। अतएव गायत्री-मन्त्र का जाप और उसके साथ ओम् का जाप भक्त के मन को बहुत शीघ्र प्रभु-दर्शन का अधिकारी बना देता है।

तीसरा साधन—सत्संग

मन के सुधार के लिए तीसरा साधन सत्संग है। भले पुरुष की संगत में बैठने से मन के संकल्प-विकल्प इस प्रकार रुक जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि के समीप बैठने से शीत जाता रहता है, या जैसे रामबन (कश्मीर) में चन्द्रभागा नदी के तट पर बैठते ही सारी गर्मी दूर हो जाती है। आपने कई बार देखा होगा कि पूर्ण श्रद्धा से आप किसी

सच्चे महात्मा के पास गये हैं तो उसके निकट बैठने ही से आपका मन एकाग्र हो गया है। उस समय कोई संकल्प-विकल्प मन में नहीं उठता। इसीलिए तो कहा गया है—

तात! स्वर्ग-अपवर्ग-सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुले न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥

सत्सङ्ग में नित्य जाइये, इसमें आलस्य न करिये। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, सबको सत्सङ्ग से लाभ पहुँचता है। इससे प्रातः-समय में, उषःकाल में सबको चुपचाप एक अद्भुत प्रसाद मिलता है। काले कोयले को क्या आपने नहीं देखा? जब धक्-धक् जलती हुई अँगीठी में डाला जाता है और थोड़ी देर जलते हुए कोयलों की संगत में रहता है तो उसकी भी कालिख नष्ट हो जाती है और वह उसी गर्मी, तेज़ी और लाली के साथ चमकने लगता है; परन्तु अँगीठी से नीचे गिर पड़े, जलते कोयलों की सङ्गति से दूर हो जाय तो वह थोड़ी देर के पश्चात् फिर काला पड़ जाता है। सङ्गत का मन पर बड़ा भारी प्रभाव होता है। नित्य सत्सङ्ग का सेवन मन का कायापलट कर देता है। यदि कुछ दिनों, कुछ महीनों अथवा कुछ वर्षों के सत्सङ्ग से आपको कोई भी लाभ प्रतीत न हो तो घबराइये नहीं। लाभ और प्रभाव निरन्तर होता रहता है। हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि हमारा मन मैला है। वह एक बार धोने से ही स्वच्छ हो जायेगा, अथवा वर्षों ही उसे सत्संग की नदी में धोना पड़ेगा, यह बात मन की अवस्था पर निर्भर है; और फिर कोई पता नहीं कि कौन-सी घड़ी में कौन-सा वचन हमारे मन पर ऐसा प्रभाव डाल दे जिससे युग-परिवर्तन हो जाय!

ऋषि दयानन्द जिन दिनों जेहलम में थे, उन दिनों वहाँ महता अमीचन्द जी बहुत सुन्दर भजन गाया करते थे। परन्तु थे वे शराबी और उनका आचार भी कुछ बिगड़ चुका था। नित्य स्वामी जी के पास आते। एक दिन महता अमीचन्द ने प्रभु-भक्ति का बहुत ही मनोहर गान गाया। स्वामी जी ने सुना तो कहा, "अमीचन्द! हो तो हीरे, परन्तु

कीचड़ में गिरे पड़े हो ।" बस, तीर चल गया । निशाना ठीक बैठ गया था । उसी समय से महता अमीचन्द का जीवन पलट गया । मदिरा छोड़ दी, व्यभिचार को महापाप समझने लगा और महता अमीचन्द सचमुच ईश्वर-भक्त बन गये । महर्षि के एक वाक्य ने एक शराबी व्यभिचारी को भक्त और शुद्धाचारी बना दिया । इसीलिए मैं कहता हूँ कि सत्संग से उकताइये नहीं । निरन्तर प्रयत्नशील रहा करिये । प्रतीक्षा कीजिये कि कब आपके भाग्योदय की घड़ी आती है ।

चौथा साधन—स्वाध्याय

मन को पवित्र रखने में स्वाध्याय भी बहुत महत्ता रखता है । 'शतपथ ब्राह्मण में बतलाया है—

> प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परम-चिकित्सक आत्मना भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः ।
> (११-५-७-१)

"स्वाध्याय (वेद का पढ़ना) और प्रवचन (वेद-प्रचार) ये दोनों ऋषियों के प्यारे कर्म हैं । स्वाध्याय करनेवाला पुरुष एकाग्र-मन हो जाता है, पराधीन नहीं होता । दिन-प्रतिदिन उसके प्रयोजन पूरे होते हैं । सुख से सोता है । अपने-आप का परम चिकित्सक बन जाता है । इन्द्रियों का संयम, सदा एकरस रहना, ज्ञान की वृद्धि, यश-प्राप्ति, लोगों को सुधारने और निपुण बनाने के काम, ये सब स्वाध्याय से प्राप्त होते हैं ।"

'शतपथ' में एक और स्थान पर भी यह उपदेश है—

"मनुष्य इस सारी पृथिवी को धन से भरकर देता हुआ जिस फल को भोगता है, इससे तिगुने फल को अथवा उससे बड़े, अथवा अक्षय-फल को वह भोगता है जो ठीक-ठीक जानता हुआ प्रतिदिन स्वाध्याय करता है । इसलिए स्वाध्याय नियम से करना चाहिए ।"

तैत्तिरीय उपनिषद् (शिक्षावल्ली अनुवाक ६) में मनुष्य के पन्द्रह विभिन्न कर्त्तव्य गिने गये हैं। परन्तु प्रत्येक कर्त्तव्य के साथ स्वाध्याय और प्रवचन को मुख्य स्थान दिया गया है—"नाक मौद्गल्य यह मानता है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही आवश्यक है, क्योंकि वह ही तप है।"

'योगदर्शन' के व्यास भाष्य में लिखा है—"स्वाध्यायः प्रणवादि-पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।" ओंकार आदि पवित्र करने-वाले नामों का जाप और मुक्ति-प्रतिपादक शास्त्रों को पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है।

जब ऋषियों ने स्वाध्याय की इतनी महिमा गाई हो तो फिर सन्देह ही क्या रह जाता है! जब हम स्वाध्याय करते हैं तो निश्चय जानिए कि हम भगवान् और ऋषियों से सत्संग करते हैं और सीधे रूप में उनसे प्रसाद पाते हैं। स्वाध्यायियों का यह अनुभव है कि कितने ही संशय अपने-आप उनके मिट गये, कितने ही रोगों की अनुभूत ओषधियाँ उनको मिल गईं। प्रभु के कोष में जो जायेगा, वह खाली हाथ नहीं लौट सकता; उसको तो मन एकाग्र करने के कितने ही साधन मिलेंगे। इसलिए नित्यप्रति वेद, उपनिषद् इत्यादि पठनीय श्रेष्ठ ग्रन्थों का स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। आप अनुभव करेंगे कि इससे आपका मन निर्मल होता जा रहा है।

पाँचवाँ साधन—भगवद्-अर्थ कर्म

मन की निर्मलता के लिए पाँचवाँ साधन 'प्रभु के निमित्त काम करना' है। एक बार महात्मा हंसराज जी ने मुझे बताया कि जब उन्होंने जीवनभर बिना वेतन लिये दयानन्द कॉलेज में काम करने के सम्बन्ध में आर्यसमाज लाहौर के प्रधान को पत्र लिखा तो उनके मन में एक अद्भुत ज्योति चमत्कृत हुई। वह इस ज्योति को कितनी ही देर देखते रहे। तब उन्होंने अनुभव किया कि उनके मन की शक्ति कितनी बढ़ गई है और वह अपने अन्दर कितना अवर्णनीय आनन्द अनुभव करते हैं।

निस्सन्देह, इससे मन की निर्मलता बढ़ती है, मानसिक संकोच नष्ट होता है, क्षुद्रता जाती रहती है, विशालता का विस्तार होता है। जब कोई मनुष्य परोपकार-निमित्त इस भावना से अपने-आप को अर्पण करता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान् के निमित्त कर रहा हूँ, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं तो मन मोद, प्रमोद और आनन्द की तरंगों से तरंगित हो उठता है। जब किसी दीन, दुःखी और रोगी को, जिससे कोई सांसारिक सम्बन्ध न हो, आराम पहुँचाया जाता है, भूखे को खाना दिया जाता है, प्यासे की प्यास बुझाई जाती है तो उस समय वह कार्य करनेवाला अपने-आपको कुछ ऊपर उठा हुआ अनुभव करता है। यदि इसके साथ यह भावना भी हो कि 'मैं क्या हूँ ! यह सब काम करनेवाला भगवान् है; यह उसी की कृपा है और यह काम उसी के समर्पण है' तो मन की निर्मलता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इसी भावना को निष्काम कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म उसे लिप्त नहीं करते। वह कमल-पत्र की भाँति संसार के जल में रहकर सारे कार्य करता हुआ भी कर्मरूपी जल से अलिप्त रहता है। यदि कोई यह प्रतिज्ञा कर ले कि वह जो करेगा भगवान् के अर्पण करता रहेगा तो फिर उससे कोई भी बुरा काम नहीं हो सकता। साधारण-से-साधारण व्यक्ति को भी जब वस्तु भेंट करनी होती है, तो अच्छी-से-अच्छी वस्तु प्राप्त की जाती है। जब माता-पिता, गुरु, इष्टदेव की भेंट के लिए सर्वोत्तम पदार्थों की खोज की जाती है, तब अपने भगवान् की भेंट के लिए तो अति-उत्तम, अति-प्रिय, और अति-उपयोगी वस्तु ही चाहिए। इसलिए जब वह कोई कर्म करने लगेगा तो पहले वह सोचेगा, क्या वह भगवान् की भेंट के योग्य है ? योग्य नहीं होगी तो उसे तत्काल छोड़ देगा। तब क्या वह झूठ बोल सकेगा ? चोरी अथवा कोई और निन्दनीय काम कर सकेगा ? कदापि नहीं। तब वह खोटे कर्मों से स्वयमेव छूट जाएगा। भगवान्-अर्पित कर्म करने का परिणाम इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि मनुष्य देवता बनने लगता है। इसी भाव को लेकर कृष्ण भगवान् ने वीर-श्रेष्ठ अर्जुन से कहा था—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
(गीता० ६-२७)

"हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण-रूप तप करता है, सब मेरे अर्पण कर।"

हवन-यज्ञ करनेवाले भी तो यही करते हैं। घृत अथवा सामग्री की प्रत्येक आहुति देकर "इदन्न मम" का शब्द कहते हैं। इसका प्रयोजन भी यही है कि यह मेरी नहीं, अपितु अग्निरूप, वरुणरूप, प्राणरूप भगवान् की है; आहुतियो के साथ-साथ समर्पण का कार्य भी होता चला जाता है। इस प्रकार एक भक्त का जीवन और उस जीवन का एक-एक श्वास प्रभु-अर्पण होता रहता है। वह फिर अपने लिए नहीं जीता, भगवान् के लिए जीता है; वह अपने लिए नहीं खाता, प्रभु के लिए खाता है। जब उसका खाना, पीना, सोना, व्यायाम करना, हवन करना, धनोपार्जन, सन्तान का पालन करना, सभा-समाज को सेवा करना, सब-कुछ प्रभु-अर्पण हो जाता है तो फिर चाहे उसे रूखी रोटी मिले या घी से चुपड़ी हुई, सुख मिले या दुःख, जीवन की आस रहे अथवा मृत्यु ताण्डव करे, किसी भी अवस्था में भक्त का मन उदास नहीं होता। प्रत्येक बात का वह स्वागत करता है। कितना ऊँचा उठ जाता है ऐसा भक्त ! देखनेवाले आश्चर्य करते हैं और भक्त उनके आश्चर्य पर ही हँसता है। जब अपने-आप को प्रभु के समर्पण कर दिया, तब वह जैसे चाहे हमारा प्रयोजन करे, हमें कोई शिकायत रहती ही नहीं।

छठा साधन—उपासना

मन को निर्मल करने का एक और उपाय भी है। इसकी महिमा भी किसी से कम नहीं। वह है "उपासना" अर्थात् पास बैठना। जिस परमात्मा को हम पाना चाहते हैं, जब तक उसके पास बैठने का

अभ्यास नहीं डालेंगे तब तक उसे पाएँगे कैसे ?

महाराज भगवान् दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में लिखा है—"उपासना दो प्रकार की है: एक सगुण, दूसरी निर्गुण। जगत् का रचनेवाला, वीर्यवान्, शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है, तथा अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों से रहित होने से यह निर्गुण कहाता है।" जब हम यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, शुद्ध और सनातन है; सबको उसी ने उत्पन्न किया है; ये पर्वत, ये नदियाँ, ये स्रोत, ये समुद्र, ये मीलों लम्बे रेगिस्तान, ये सुन्दर वन, ये पुष्प, ये मेघ, यह विद्युत् उसी की महिमा है; ये सूर्य और चाँद, ये तारे और नक्षत्र उसी की आज्ञा से घूमते हैं और यह सारा संसार उसी की ओर अँगुली उठाये संकेत कर रहा है और भगवान् इन सबके भीतर-बाहर ओत-प्रोत हो रहा है, कोई भी स्थान उससे खाली नहीं, तो हम सगुण भगवान् की उपासना करते हैं। उसकी महिमा को देखकर, उसके पराक्रम को देखकर, उसकी असीम विशालता को देखकर, उसके गुणों का वर्णन करते हुए हम उसकी सगुण उपासना करते हैं। जब यह कहते और विचारते हैं कि वह स्वयं अजर, अमर, निराकार और निर्विकार है, यह कभी बन्धन में नहीं आता, न वह गणना में आता है, न उसका तोल है न माप, वह अरूप है, वह अनादि है, अनन्त है, बिना गंध के है, बिना स्पर्श के है, तब हम उसकी निर्गुण उपासना करते हैं।

ये दोनों प्रकार की उपासनाएँ नित्य-प्रति करनी चाहिएँ। दोनों प्रकार के मन्त्र वेद भगवान् में हैं, इनका पाठ करना आवश्यक है। इनके पाठ के पश्चात् प्रभु के निकट बैठने की बारी आती है। पूर्वोक्त साधनानुसार आसन से स्थित हो प्राणायाम करके अब उस गुहा में प्रवेश कीजिए जहाँ प्रभु दिखाई देता है। इसकी विधि भगवान् दयानन्द ने यह लिखी है—

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो

हृद्देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश-रूप एक स्थान है, और उसके बीच जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्द-स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है।"

योगिराज ने उपनिषद् के अनुसार कितना सरल, सीधा और ठीक ठिकाना प्रभु का बतला दिया है! इसे पाकर भी यदि हम प्रभु के निकट न जाएँ तो हमारा दुर्भाग्य है। और जब एक बार हृदय की गुहा में निहित, ज्योति से भरपूर उस स्थान में प्रभु को देख लिया तो फिर शेष क्या रह जाता है ?

हृदय कहाँ ?

कुछ लोगों का मत है कि हृदय की गुहा सिर में है। मस्तिष्क से ऊपर और खोपड़ी के नीचे एक स्थान है, जिसे क्षीरसागर भी कहते हैं। वहीं ब्रह्मरन्ध्र भी है। इसीलिए उस ब्रह्मचक्र में ध्यान की बात वे कहते हैं, परन्तु उपनिषद् हृदय की गुहा कण्ठ के नीचे बताते हैं। मुझे इन दोनों में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। बात स्पष्ट है—प्रभु के पाने के दो ही साधन हैं—एक विज्ञान और दूसरे मन की एकाग्रता। विज्ञान का स्थान है मस्तिष्क और चित्त का स्थान है दोनों स्तनों के बीच हृदयाकाश। इन दोनों का मिलाप होना आवश्यक है। जब तक विज्ञान प्राप्त न हो जाय तब तक प्रभुदर्शन नहीं हो सकते। इसीलिए सबसे पूर्व भक्त को आत्मज्ञान लेने के लिए आज्ञा-चक्र (भ्रू-मध्य) में जाना होता है; हेड ऑफ़िस इसी स्थान पर है! यहाँ जब भक्त प्रयत्न करता है और अपने को विज्ञानी सिद्ध करता है, अधिकारी साबित करता है, तब उसे हृदय की गुहा में जाने का पासपोर्ट मिल जाता है। वहाँ से पासपोर्ट लेकर फिर वह हृदय की गुहा में घुसता है। यहीं दर्शन होते हैं। अथर्ववेद के केन सूक्त (२०-२) में

इसी विषय का बहुत ही सुन्दर (२६वाँ) मन्त्र है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

"एकरस रहनेवाला पवित्र ईश्वर इस मनुष्य के हृदय को सीकर (जगत् में भेजे) वह मस्तिष्क से ऊपर होकर सिर के नीचे हृदय में आता है।"

अर्थात् परमात्मा को पानेवाले भक्त के लिए आवश्यक है कि वह मस्तिष्क और हृदय को एक बना ले। यह न हो कि बुद्धि तो किसी दूसरी ओर जाने का आदेश करे और मन कहीं और घसीट ले चले। दोनों को सीकर एक कर देना होगा। इनको सीए बिना काम नहीं चलेगा। इस सम्बन्ध में एक बहुत ही रोचक भाव श्री महात्मा नारायण-स्वामी जी ने बताया है कि परमात्मा तर्क से परे है अर्थात् मस्तिष्क से ऊपर है और हृदय ही में जो प्रेम, श्रद्धा और भक्ति का स्थान है, उसके दर्शन होते हैं। यदि यह समझ लिया जाय कि जीवन-काल में प्रभु-दर्शन हृदयाकाश में होते हैं और मृत्यु के समय आत्मा के ब्रह्म-चक्र में, तो सारी उलझन सुलझ जाती है। इसी अवस्था में ब्रह्मरन्ध्र में से होकर शरीर छोड़ने का विधान है। उपनिषद् में लिखा है कि भक्तों और योगियों का आत्मा मृत्यु-समय इन्द्रयोनि में (मांस का एक लोथड़ा-सा गले में जो लटक रहा है) आ जाता है और फिर वहाँ से सीधा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में होकर शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसे भक्त मोक्ष के अधिकारी होते हैं। यह बात सम्मुख रखने से मस्तिष्क और हृदय का कोई झगड़ा बाकी नहीं रहता। भक्त के लिए आवश्यक है कि वह ब्रह्मचक्र तक अपनी गति कर ले। वहाँ तक पहुँच हो जाने के पश्चात् हृदय की गुहा में उतरने की आज्ञा मिल जाती है। यहीं दर्शन होते हैं और फिर मृत्यु-समय में इसी ब्रह्मचक्र द्वारा भक्त की आत्मा शरीर त्याग देती है।

□

९

मन की निर्बलता

मन को वश में करने के साधनों का वर्णन करने के साथ मन के विषय में यह बात समझ लेना भी आवश्यक है कि मन के गुण क्या हैं। यदि यह मालूम हो जाय कि इसकी दौड़ कहाँ तक है तो फिर इसे काबू करना सरल हो जाता है। मनुष्य-शरीर की एक-एक नस-नाड़ी की खोज कर डालनेवाले ऋषियों ने शरीर के उन सारे तत्त्वों और द्रव्यों को भी ढूंढ निकाला है, जिनसे यह शरीर बना है। इसी प्रकार संसार के बनने में जो वस्तु और पदार्थ काम में लाये गए हैं, उनके विषय में भी ऋषियों ने पूरा पता दिया है। दर्शन-ग्रन्थों में इनका बहुत सुन्दर वर्णन आता है। वैशेषिक दर्शन में बतलाया है कि निम्नोक्त नव द्रव्य हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। शरीर-निर्माण में भी इन्हीं द्रव्यों का प्रयोग हुआ है। ऋषियों ने इन द्रव्यों के स्वरूप, लक्षण और गुण का लिंग भी मालूम कर लिया और बताया कि पृथिवी का लिंग गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श, आकाश का शब्द, और आत्मा का इच्छा है। द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान की व्याख्या के पश्चात् 'मन' की बात भी कही।

दर्शनों के विषय में यह सारी प्रस्तावना मैंने केवल मन की बात कहने के लिए यहाँ उद्धृत की है, अन्यथा तर्क-वितर्क की इन बातों में उलझने का मेरा कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु 'न्यायदर्शन' के कर्त्ता ने मन के विषय में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात कही है जो मन को काबू में करने का प्रयत्न करनेवालों के लिए बड़े काम की चीज़ है। किसी भी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसका कोई कमज़ोर स्थान मालूम किया जाय; और मन पर विजय प्राप्त

करनेवाले यह सुनकर प्रसन्न होंगे कि 'न्यायदर्शन' ने मन की निर्बलता भली दर्शा दी है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।। न्याय० १-१-१३ ।।

"जिनसे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण और ज्ञान नहीं होता, उसको मन कहते हैं।" जब यह पता लग गया कि मन तो एक समय में केवल एक ही काम कर सकता है, एक काल में एक ही विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखता है, एक क्षण में एक ही वस्तु का इसे ज्ञान हो सकता है, दो का नहीं, तो फिर इसे एक भगवान् की ज्योति की ओर लगाने में कौन-सी कठिनाई रह जायेगी ? केवल एक बार बलपूर्वक प्रयत्न करने और 'हठ' करने की आवश्यकता है। जब एक बार इसे 'आरटन' से लगा दिया, बस यह उसी में लगा रहेगा। यह किसी दूसरे पदार्थ की ओर जा ही नहीं सकेगा। इसमें इतनी शक्ति ही नहीं कि एक समय में दो का ध्यान कर सके। मन की इस निर्बलता से भक्त लोग अवश्य लाभ उठायें और इसे एक भगवान् की ओर लगाने का प्रयत्न करें, अवश्य सफलता मिलेगी।

मन को एक और ढंग से भी समझाया जा सकता है और वह यह है कि जब उपासना में बैठें और मन उपासना को छोड़ कहीं और खिसकने लगे, तब मन से कहो—अरे ! तू कहाँ जाने लगा है ? क्या पुरुषों के समूह में ? क्या स्त्रियों के जमघट में ? सुन-सुन, ऐसा न कर ! वहाँ जाने से तू बड़ा अपमानित होगा, तेरी खिल्ली उड़ेगी। तू है नपुंसक, स्त्री-पुरुषों में जाने से तेरी हँसी होगी। तू अपनी बिरादरी में चल, वहाँ तेरी दाल गल सकेगी। (याद रहे, व्याकरण की दृष्टि में मन नपुंसक लिंग है और ब्रह्म भी नपुंसक लिंग है, इसीलिए साधक मन को कह रहा है कि) अरे मन ! ब्रह्म के पास चल, ताकि तेरा मान हो। उदास न हो ! मन को उसका यथार्थ स्पष्ट याद कराने से उसको अपनी निर्बलता का पता लग जायेगा और वह स्त्री-पुरुषों के समूह में जाना छोड़कर अपने लिंगवाले ब्रह्म के पास बैठने को तैयार हो जायेगा।

□

उसके अपात्र

ईश्वर नाम अमूल्य है, दाम न बिना बिकाय।
तुलसी अचरज देखिये, कोई ग्राहक न आय ॥

निःसन्देह, यह बहुत आश्चर्य है कि प्रभु-भक्ति पर कुछ भी तो व्यय नहीं होता और भगवान् का नाम बिना मूल्य के मिलता है, परन्तु फिर भी कोई खरीदार नहीं आता। इस आश्चर्य को देखकर तुलसीदास जी स्वयं ही इसका उत्तर देते हैं—

तुलसी पिछले पाप से, हरिचर्चा न सुहाय।
जैसे ज्वर के वेग में, भूख विदा हो जाय॥

जब मनुष्य ज्वर-ग्रस्त हो तो उसे अमृत-से-अमृत वस्तु भी अच्छी नहीं लगती। न दूध पीने को जी चाहता है, न कुछ खाने को। हाँ, किसी-किसी समय चटपटी चीज़ों के लिए जी ललचाता है परन्तु भूख फिर भी नहीं होती। इसी प्रकार जिन लोगों को पिछले जन्मों के पापों का ज्वर चढ़ा हुआ है, उन्हें प्रभु-चर्चा भली नहीं लगती। वे परमात्मा के नाम से भागते हैं। कुछ लोग तो परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते। ऐसे लोग वास्तविक रूप में रोगी हैं। उनका मन तथा आत्मा पाप-ग्रस्त हैं। इसीलिए तो उनका मन प्रभु-भजन में नहीं लगता। नाच-तमाशे, सिनेमा और इसी प्रकार की दूसरी चटपटी वस्तुओं पर ललचाता है और वे इन्हीं की ओर दौड़ते हैं। परन्तु वे नादान नहीं जानते कि ज्वर-ग्रस्त होते हुए वे रोग को भी बढ़ा रहे हैं। ऐसे लोग प्रभु को कभी पा भी सकेंगे? भारी सन्देह होता है।

यजुर्वेद के १७वें अध्याय का ३१वाँ मन्त्र इस विषय को बड़ा स्पष्ट करता है—कौन लोग प्रभु को नहीं पा सकते?

निम्नोक्त मन्त्र में इसका बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया गया है—

न तं विदाथ यऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

"हे मनुष्यो, जैसे ब्रह्म के जाननेवाले पुरुष धूप के आकार कुहर के समान अज्ञानरूप अन्धकार से अच्छी प्रकार ढके हुए थोड़े सत्य-असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहनेवाले, प्राणपोषक और योगाभ्यास को छोड़ शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के खण्डन-मण्डन में रमण करते हुए विचरते हैं, वैसे ही तुम लोग उस परमात्मा को नहीं जानते हो। जो इन प्रजाओं को उत्पन्न करता और जो ब्रह्म तुम अधर्मी अज्ञानियों के सकाश से अर्थात् कार्य-कारण रूप में जगत् और जीवों से भिन्न तथा सभी में स्थिर भी दूरस्थ होता है, उस अति सूक्ष्म आत्मा के आत्मा को नहीं जानते हो।"

भगवान् को पा न सकनेवाले चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन उक्त वेदमन्त्र में किया गया है—

अज्ञानी—

पहले तो वे, जो अज्ञान-रूपी अन्धकार में कुहरे के समान ढके हुए हैं। निपट अज्ञानी लोग, जिन्हें किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं, जो पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं, जिन्होंने ज्ञान की अग्नि में अपनी बुद्धि को नहीं तपाया और न ही अपने जीवन का उद्देश्य जाना। जन्म ले लिया, पल गए, बड़े हुए, खाया-पीया और मर गए। बस, इतना ही जिनका जीवन है, और जो ज्ञान से शून्य हैं, ऐसे व्यक्तियों को प्रभु-दर्शन नहीं हो सकते।

जल्पी

दूसरे वे लोग भी प्रभु-दर्शन से वंचित रह जायेंगे जो (जल्प्या) जल्प करनेवाले हैं अर्थात् थोड़े सत्य-असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहने-वाले—कुछ अल्प-ज्ञान प्राप्त कर लिया और शब्दजाल में पड़कर लगे वाद-विवाद करने—ऐसे, जैसे चूहे को हल्दी की गाँठ मिल जाय तो

वह अपने-आप को पंसारी समझने लगे; ऐसे लोग भी जिनको पूरा ज्ञान नहीं या जो वाद-विवाद ही में पड़े रहते हैं, जिनका स्वभाव केवल दूसरों की भाषा और वाणी के दोष निकालना हो जाता है, तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते; केवल गृद्ध की तरह मांस पर मँडराया करते हैं। इनकी हंस-वृत्ति नहीं, अपितु काक-वृत्ति होती है। इनके भाग्य में ज्योति से भरपूर स्वर्ग में पहुँचकर प्रभु प्यारे को पाना नहीं लिखा।

असुतृप—

तीसरे वे लोग हैं, जिनको इस वेद-मन्त्र में 'असुतृपः' कहा गया है। इन्हें प्राणपोषक व 'पेटू' भी कहा जा सकता है; अर्थात् जो विरोचन[1]-बुद्धिवाले हैं और यह समझते हैं कि यह शरीर ही सब-कुछ है, चाहे बेज़बानों के गले काटने पड़ें, परन्तु इस शरीर की ज़बान का चस्का अवश्य पूरा होना चाहिए।

१. विरोचन-बुद्धि वे लोग हैं, जो शरीर ही को आत्मा समझकर इसी की पूजा में रहते हैं। इस सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा छान्दोग्य उपनिषद् में आती है—

प्रजापति ने कहा—"आत्मा जो कि पाप से अलग है, जरा और मृत्यु से परे है, शोक से दूर है, भूख और प्यास से अलग है, जो सच्ची कामनाओंवाला और सच्चे संकल्पोंवाला है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी तलाश करनी चाहिए। जो इस आत्मा को ढूंढकर जान लेता है, वह सारे लोकों को, सारी कामनाओं को पा लेता है।" प्रजापति के इन शब्दों को देवता और दैत्य दोनों ने सुना और उन्होंने कहा—"हमें उस आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए जिस आत्मा को ढूंढकर पुरुष सारे लोकों और सारी कामनाओं को पा लेता है।" यह निश्चय कर देवताओं में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन, दोनों प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने दोनों के आने का कारण पूछा। दोनों ने कहा, "आपके इस वचन का ढिंढोरा दुनिया में पिट रहा है कि आत्मा की खोज करनी चाहिए। सो हम दोनों उसी की खोज में आपके पास आए हैं।" प्रजापति ने उन दोनों को कहा—"यह जो आँख में पुरुष दीखता है, यही है वह आत्मा, यही है जो मैंने कहा था। यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।"

चाहे चोरी-मक्कारी करनी पड़े, परन्तु इस शरीर के पेट की कब्र भरनी ही चाहिए। दूसरे मरें या जिएँ, परन्तु मेरी देह को सब प्रकार का सुख मिलना चाहिए। धर्म, जाति, देश पड़े भाड़ में, मेरे शरीर के आराम के लिए मोटर, बँगले, वाटिका और नाना प्रकार के भोजन होने ही चाहिएँ। ऐसे पेटू लोगों का धर्म-ईमान केवल पेट रह जाता है। खाओ, पीओ और खाते-ही-खाते मर जाओ। एक बार रोम के लोग इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने लगे थे। वे खाते थे और जब पेट भर जाता था तो वमन कर देते, फिर खाते और वमन कर देते। वे इसी

दोनों ने पूछा—"हे भगवन्! यह जो जलों में दीखता है और यह जो शीशे में दीखता है, यह कौन है?"

प्रजापति ने उत्तर दिया—"यही इनमें दीखता है। पानी के प्याले में तुम दोनों आत्मा (अपने-आप) को देखो, और जो कुछ तुम आत्मा (अपने-आप) को नहीं समझे हो, वह मुझे बताओ।" उन्होंने पानी के प्याले में देखा। तब प्रजापति ने उन्हें कहा—"क्या देखा तुमने?" उन्होंने कहा, "भगवन्! हम यह सम्पूर्ण आत्मा देख रहे हैं, रोम-रोम तक और नख-नख तक···अपनी पूरी छाया।"

प्रजापति ने उन्हें कहा—"अच्छे-अच्छे आभूषण और वस्त्र पहनकर तथा अपने-आप को साफ़-सुथरा करके (बाल और नख काटकर) फिर पानी में देखो।"

उन दोनों ने वैसा ही किया। प्रजापति ने पूछा—"अब क्या देखते हो?" वे बोले—"जैसे हम अच्छे भूषण और वस्त्र धारण किए हुए और साफ़-सुथरे हैं, इसी प्रकार हे भगवन्, ये दोनों हमारे आत्मा (अर्थात्, प्रतिबिम्ब) हैं।" प्रजापति ने कहा—"यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।"

तब वे दोनों प्रसन्न-चित्त होकर चले गये।

उन दोनों को जाते देखकर प्रजापति ने कहा—'ये दोनों आत्मा को जाने और खोजे बिना जाते हैं। इन दोनों में से जो कोई देवता या असुर इस उपनिषद (देह आत्मा है, इस सिद्धान्त) का अनुसरण करेंगे, वे नष्ट हो जाएँगे।'

अब विरोचन तो वैसा ही प्रसन्न-चित्त हुआ असुरों के पास पहुँचा और उसने कहा—"यह शरीर ही आत्मा है और यही सेवा के योग्य है। जो यहाँ आत्मा

में शरीर का सुख समझ बैठे थे। ऐसे लोगों ने जीवन का ध्येय केवल खाना ही समझ रक्खा है; वे जीते ही खाने के लिए हैं। फ़ारसी के एक कवि ने कहा है—

खुरदन बराय जीस्तनो जिकर करदन अस्त।
तो मोतकिद की जीस्तन अजबहरे खुरदन अस्त॥

अर्थात् "खाना जीवित रहने और भगवान् का भजन करने के लिए है परन्तु तेरा यह विश्वास है कि जीवन खाने ही के लिए बनाया है।" ऐसे ही लोग असुतृप: हैं। वे कदापि प्रभु-भजन में मन को नहीं लगा सकते। वे तो केवल शरीर की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की सन्तुष्टि में लगे

(देह) को पूजता और उसकी सेवा करता है, वह दोनों लोकों का लाभ करता है।" किन्तु इन्द्र ने देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही भय (दिक्कत) अनुभव किया—जब यह छाया (जो पानी में देखी) अर्थात् शरीर अच्छे भूषणों को धारता है तो अच्छे भूषणोंवाला हो जाता है, और जब अच्छे वस्त्रों को पहनता है तो अच्छे वस्त्रोंवाला हो जाता है। इसी प्रकार शरीर के अन्धा होने पर यह भी अन्धा हो जाता है, काना होने से काना होता है, लँगड़ा होने पर यह भी लँगड़ा हो जाता है। मुझे तो इस सिद्धान्त में कोई भलाई नहीं दीखती। यह विचारकर इन्द्र फिर प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उसे देखकर कहा—"इन्द्र! तुम शान्त-हृदय होकर विरोचन के साथ चले गये थे। किस प्रयोजन से तुम फिर आ गये हो?" इन्द्र ने अपनी वही शंका उनके सामने रख दी और कहा—"इस शरीर के नाश होने पर तो इसकी छाया नष्ट हो जाती है, इसलिए इस सिद्धान्त में मुझे भलाई नहीं दीखती।" प्रजापति ने कहा—"तूने ठीक समझा, क्योंकि छाया आत्मा नहीं है। अब मैं तुम्हें असली आत्मा का व्याख्यान करूँगा।" इसके पश्चात् प्रजापति ने स्वप्न में महिमा अनुभव करनेवाले को आत्मा बतलाया। इन्द्र ने इसपर भी आपत्ति की। तब प्रजापति ने सुषुप्ति-अवस्थावाले को आत्मा बतलाया। इन्द्र ने फिर भी मीन-मेख निकाली तो प्रजापति ने देखा कि यह तो सचमुच असली आत्मा को देखे बिना नहीं टलेगा। इसलिए इन्द्र को उपदेश दिया—"यह शरीर मरनेवाला है, जो मृत्यु से जकड़ा हुआ है। यह इस अमर और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान (रहने की जगह)

रहते हैं, किसी के लिए अच्छे दृश्य ला, किसी के लिए सिनेमा का प्रबन्ध कर, किसी ने और ही इच्छा प्रकट कर दी, असुतृप: लोग इन्हीं के नौकर बनकर सारा जीवन बैल, कुत्ते और उल्लू की भाँति व्यतीत कर देते हैं। इसका यह प्रयोजन नहीं कि शरीर की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए। नहीं, ध्यान अवश्य देना चाहिए। आत्मा के निवास-स्थान की ओर ध्यान न देंगे तो और किसकी ओर देंगे! परन्तु इसे निवास-स्थान ही समझना चाहिए, आत्मा नहीं। गीता में कृष्ण भगवान् ने बहुत सुन्दरता से बतलाया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

"युक्त आहार और युक्त ही विहार, इसी प्रकार युक्त ही चेष्टा और कर्म करनेवाले और युक्त ही सोने और जागनेवाले योग को सिद्ध कर सकते हैं।"

युक्त का प्रयोजन है उचित, मुनासिब। कुछ लोग मर्यादा में रहकर खाते हैं—न इतना कम कि शरीर निर्बल ही होता चला जाय और न इतना अधिक ही कि खाने के सिवा और कुछ सूझे ही नहीं। शरीर-रक्षा के लिए जितना खाना आवश्यक है, उतना खाना चाहिए, न कम न अधिक। इसी प्रकार काम भी मर्यादा से करना चाहिए। सोने और जागने के विषय में भी "युक्त" के सिद्धान्त को सामने रखना चाहिए और चेष्टा भी अपनी शक्ति और अपनी अवस्था के अनुसार ही करनी चाहिए; तभी ये चेष्टाएँ पूर्ण हो सकती हैं। इस प्रकार से जो लोग अपना जीवन बना लेते हैं, निश्चय ही वे योग ही करते हैं, और ऐसे ही लोग प्रभु के साथ योग करने के अधिकारी बनते

है। जब तक यह शरीर के साथ एक हो रहा है, शरीर में आत्माभिमान रखता है, यह प्रिय और अप्रिय (हर्ष-शोक) से जकड़ा हुआ है। पर जब यह शरीर से अपने-आप को अलग समझता है, तब इसको प्रिय और अप्रिय नहीं छूते।"

पूरी कथा के लिए छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें प्रपाठक का सातवाँ, आठवाँ, नवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ खण्ड पढ़िये।

हैं। जो अपना उद्देश्य केवल पेट-पूजा ही मानते हैं उनके लिए तुलसीदास जी कहते हैं—

भजन करन को आलसी, भोजन को तय्यार।
तुलसी ऐसे जनन पर, बार-बार धिक्कार॥

तो ऐसे लोग भी प्रभु के प्रेम-पात्र नहीं बन सकते।

उक्थशास—

वेद-आज्ञा के अनुसार भगवान् को न पा सकनेवाले वेद की भाषा में "उक्थशास" कहलाते हैं। योगिराज भगवान् दयानन्द ने इसका यह भाव लिखा है—"योगाभ्यास को छोड़कर शब्द, अर्थ, सम्बन्ध के खण्डन-मण्डन में रमण करनेवाले।" जो लोग पढ़ तो बहुत गये हैं, ज्ञान भी सारा प्राप्त कर लिया, शास्त्रार्थ करने में भी बेजोड़ हैं, किन्तु प्रभु-चरणों में जिनकी लगन नहीं है, केवल शब्दजाल में और व्याकरण के गोरखधन्धे में फँसे हैं, और अर्थों के बखेड़े ही से फुरसत नहीं मिलती, ऐसे लोग भी प्रभु को पाने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोगों को यदि "झगड़ालू" का नाम दे दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। जिनका स्वभाव झगड़ालू हो गया है, भाषा कड़वी हो गई, वाणी में मिठास नहीं रही, किसी से बात करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभी काट खायेंगे, उनकी मनोवृत्ति प्रभु-भक्ति की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकती। इस वेद-मन्त्र के अनुसार जो लोग अज्ञानी हैं, जो लोग अल्पज्ञान रखनेवाले और अभिमानी हैं, जो लोग असुतृपः या पेटू अर्थात् विरोचन बुद्धि-वाले हैं, और जो लोग ज्ञानी होते हुए भी झगड़ालू हैं, ऐसे लोग प्रभु-दर्शनों से वंचित ही रहते हैं।

□

११

उसके पात्र

प्रभु-दर्शन की इच्छा रखनेवालों के अन्दर सबसे पहला गुण यह होना चाहिए कि वे पूर्ण रूप से ईश्वर-विश्वासी हों, प्रभु पर अटल-श्रद्धा और अटूट विश्वास से मन भरपूर हो। वह है, और सर्वत्र व्यापक है, हमारे एक-एक हाव-भाव को देखता है और कोई भी बात उससे छिपी नहीं रह सकती। शक्तिशाली इतना है कि सारी सृष्टि पलभर में समाप्त करना और इसे फिर नये रूप में बना देना उसके लिए उतना ही सुगम है जितना हमारा आँख बन्द करके खोल देना। करोड़ों सूर्य उसके संकेत पर घूम रहे हैं। समस्त धन, कुल, सम्पत्ति उसी की है। ऐसे शक्तिशाली भगवान् की मैंने शरण ली है। ईश्वर-विश्वास के ज्वलन्त उदाहरण देखने हों तो भगवान् दयानन्द का जीवन पढ़ो। सारा संसार विरोधी है और प्रभु-विश्वास के सहस्रों शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं और किसी भी समय शिथिल नहीं होते। काशी में महाराज स्वामी दयानन्द अकेले ही थे। काशी के लोगों ने निश्चय कर लिया था कि दयानन्द को हानि पहुँचायेंगे। भारी भय था, इसी-लिए वलदेवप्रसाद ने स्वामी जी के पास प हुँचकर कहा—"महाराज, आज बहुत भीड़ होगी, यह गुण्डों का नगर है। यदि फर्रुखाबाद होता तो दस-वीस मनुष्य आपकी ओर होते।" स्वामी जी यह बात सुनकर हँसे और बोले—"योगियों का निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य का सूर्य अन्धकार की सेना पर अकेला ही विजय पाता है। जान जाये तो जाये, परन्तु ईश्वर की आज्ञा—जो सत्य है, वह न जाये। बलदेव! क्या चिन्ता है? एक मैं हूँ, एक ईश्वर है, एक धर्म है।"

यह है ईश्वर का विश्वास ! इसी प्रकार प्रह्लाद का जीवन देखिये। संसार का कौन-सा कष्ट है जो उसे सहन नहीं करना पड़ा ? मगर वह शेर की भाँति सबका मुकाबला करता रहा और हर विपत्ति में यही कहता रहा—

डूबव जरव ना बात कछु, तैं जै लागी लाग।
जहाँ प्रीति काँची नहीं, कहँ पानी कहँ आग ॥

भक्त को अपने हृदय में यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि मेरा मस्तक केवल एक परमात्मा के सामने झुकेगा, और किसी के सामने नहीं। मेरे मन-मन्दिर में उसी देव का सिंहासन होगा, और किसी का नहीं। भयंकर-से-भयंकर आपत्ति और बड़े-से-बड़ा सुख भी मुझे प्रभु से विमुख नहीं कर सकेगा। संसार की समस्त विपत्तियों को ललकार-कर यह कह दे—

ओ३म् उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥
उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥
ऋ० १।४।५, ६ ॥

"चाहे हमारे निंदक कहें कि तुम जो इन्द्र परमात्मा की ही पूजा करते हो, सो तुम यहाँ से और अन्य स्थान से भी निकल जाओ ॥५॥ और चाहे धर्मात्मा जन हमें सौभाग्यवान् कहें, किन्तु हे अद्भुत कर्मों-वाले परमात्मा इन्द्र, हम तेरी ही शरण में रहें ॥६॥" संसार की कोई शक्ति भक्त के प्रभु-विश्वास को शिथिल नहीं कर सकेगी, इस प्रकार का ईश्वर-विश्वास भक्त के हृदय में होना चाहिए।

हर हाल में खुशहाल—

दूसरी बात भक्त के हृदय में यह होनी चाहिए कि परमात्मा ही हमारी माँ है और निश्चय ही माँ जो कुछ करती है हमारे कल्याण के लिए करती है। जिस भी अवस्था में वह हमें रक्खे, उसी में हम प्रसन्न रहें। इसका प्रयोजन यह नहीं कि भक्त आलसी और दरिद्री बन जाये। नहीं, अपितु भक्त को तो पूर्णरूपेण प्रयत्नशील होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य को पूरे ध्यान से सम्पन्न करना चाहिए, पूरी मेहनत करनी चाहिए। यदि कोई रोग अथवा आपत्ति आ जाय तो उसके निवारण के लिए अपनी और दूसरों की बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए, अपनी ओर से कोई कसर उठा न रखनी चाहिए। किन्तु जब उसका परिणाम अच्छा या बुरा (हमारी दृष्टि से) निकल आये तो प्रभु का धन्यवाद करना चाहिए कि भगवान्, तूने मेरे लिए जो उचित समझा वह कर दिया। मेरा कल्याण इसी में होगा। इसी को सन्तोष भी कहते हैं। अपनी ओर से पूरा यत्न कार्य-सिद्धि के लिए करने के पश्चात् उसका फल जैसा भी मिले उस पर सन्तुष्ट हो जाना और यह समझना कि प्रभु की ऐसी ही इच्छा थी और इसी में मेरा कल्याण है, यह भाव भक्त के मन में होना चाहिए।

माँ अपनी सन्तान को कभी भी दुःखी देखना नहीं चाहती। वह बच्चों को दूध पिलाती है, अच्छे-अच्छे भोजन खिलाती है, सुन्दर वस्त्र पहनाती है, चूमती है, प्यार करती है, परन्तु बच्चा रोगी हो जाय तो मिठाई उसके हाथ से छीन लेती है और कड़वी औषध पिलाती है; और जब कभी बच्चा शरारत करता है या कड़वी दवा नहीं पीता, तो चपत भी लगा देती है। जब भक्त ने परमात्मा को अपनी माता स्वीकार कर लिया तो फिर हमारी दृष्टि में हम पर कोई आपत्ति आती है, निर्धनता, पुत्र-वियोग, पति-वियोग, पिता-वियोग, या ऐसे ही और कष्ट आते हैं, तो भक्त को यही विश्वास होना चाहिए कि मेरा कल्याण इसी में था। वह रोये क्यों ? वह हाहाकार क्यों करे ? उसके अन्दर से तो यह ध्वनि निकलेगी—

जीता रखे तू हमको, या धड़ से सर उतारे।
अब तो ये भक्त प्रेमी, कहता है यूँ पुकारे॥
राज़ी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रज़ा है।
या यूँ भी वाहवा है, और वूँ भी वाहवा है॥

कुछ लोगों का विचार है कि प्रभु-कृपा केवल सांसारिक धन-संपत्ति, वैभव और सुख ही में दिखाई देती है। जो सांसारिक दृष्टि से

बहुत सुखी हो, उसके विषय में लोग कहते हैं कि इस पर प्रभु की महान् कृपा है। परन्तु भक्त को ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रभु-कृपा की वर्षा दिन-रात सब प्राणियों पर हो रही है। यह रुकी है न रुकेगी। हाँ, यह ठीक है कि कभी तो वह सुन्दर-से-सुन्दर रूप में प्रकट होती है और कभी वीभत्स-से-वीभत्स रूप में। जब कोई सजन ऑपरेशन कर रहा होता है और शरीर को कितना ही चीर-फाड़कर रख देता है तो बाह्य दृष्टि से देखनेवाला नादान तो यही कहेगा कि कितना निर्दयी है यह डॉक्टर! किस बेरहमी से आदमी को काट रहा है! रोगी के चीखने-चिल्लाने पर भी तो इसे दया नहीं आती! परन्तु उस मूर्ख की बातें सुनकर सर्जन ऑपरेशन का काम छोड़ नहीं देता, क्योंकि वह जानता है कि रोगी का कल्याण इसी में है कि उसकी चीर-फाड़ की जाय।

मेरे एक मित्र की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। वह अपनी धर्म-पत्नी के सुन्दर स्वभाव, उसकी सुशीलता, उसकी कार्यकुशलता और उसके प्रेम पर मुग्ध थे। जब वह बीमार पड़ी तो उन्होंने इलाज में कोई कसर उठा न रक्खी। परन्तु रोग कम होने की बजाय बढ़ता ही गया और रोते हुए पति को छोड़कर वह देवलोक सिधार गई। मेरे मित्र की अवस्था बहुत बिगड़ी। उन्हें सारा संसार अन्धकारमय दिखाई देने लगा। ज्ञान की किसी बात से उन्हें शान्ति न मिलती थी। परन्तु अब जब से प्रभु-भक्ति के मार्ग पर चलने लगे हैं, आत्म-दर्शन की कुछ लटक लगी है तो स्वयं ही कहते हैं—"भगवान् ने मेरा बड़ा कल्याण किया है। मेरी आयु समाप्त हो रही थी, मुझे पत्नी-प्रेम भगवान् की ओर जाने ही नहीं देता था। अच्छा हुआ जो उससे छुटकारा मिल गया। यदि ऐसा न होता तो मैं जिस अमृत का नित्यप्रति पान कर रहा हूँ, कैसे करता!"

इसी प्रकार हमें पता नहीं होता कि हमारा कल्याण किसमें है। हमारी आँखें, हमारी बुद्धि बहुत दूर तक देख नहीं सकती। हाँ, उसकी आँखें दूर तक देखती हैं। वही जानता है कि हमारा कल्याण किसमें है। इसलिए भक्त जहाँ ईश्वर-विश्वासी हो, वहाँ उसके अन्दर यह

पक्की धारणा भी होनी चाहिए कि प्रभु सदा हमारा कल्याण करता है। वह अद्भुत है और अपने अद्भुत उपायों से ही सब काम करता है। कुछ बातों को हम समझ जाते हैं, और कुछ को नहीं समझ सकते। अतएव जिस हाल में वह रक्खे, उसी में ख़ुशहाल रहने का स्वभाव भक्त को बनाना चाहिए।

आत्मविश्वास—

इन दोनों बातों के बाद तीसरी बात 'आत्म-विश्वास' स्वयमेव भक्त में उत्पन्न हो जाती है। अपने-आप पर भरोसा करने की भीतर से प्रेरणा होने लगती है। अपने-आप को सारे संसार के परिपालक पिता का पुत्र अनुभव करके फिर भला कौन तुच्छ रहेगा? महान् के साथ मिलकर तो वह महान् हो गया। अब वह कभी अपने-आप को असहाय, अनाथ और असमर्थ नहीं कहेगा। वह सदा आशावादी बना रहेगा। निराशा (Pessimism) कभी उसे छू भी नहीं सकेगा। प्रत्येक भले कार्य में शूरवीरों की तरह वह भाग लेगा और विजयी होगा। कायरता, भय, आलस्य और प्रमाद उसके निकट न आयेंगे। उसका हृदय उल्लास से भरपूर होगा और उत्साह की अग्नि उसे कभी ठण्डा नहीं होने देगी। वह दूसरों के कन्धों पर सवार होने के स्थान पर स्वयं अपना कार्य सम्पन्न करनेवाला बन जायेगा। आत्म-विश्वासी भयंकर-से-भयंकर क्षेत्र में भी कूदने पर उद्यत रहता है, क्योंकि उसे अपनी भुजाओं पर, अपने मस्तिष्क पर और अपने-आप पर पूरा भरोसा होता है। वह फिर दूसरों की कमाई को ललचाई हुई दृष्टि से नहीं देखता, अपितु दूसरों की कमाई पर निर्भर रहना पाप समझकर अपने हाथ से कमाता है। वह तो इस सिद्धान्त को मानता है—

तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरन करो।।

प्रभु-मन्दिरों की सेवा—

उसे पानेवाले भक्तों के अन्दर एक और मुख्य गुण यह होता है कि वे सारे भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखते हैं।

सारे मनुष्य उसे परमात्मा के मन्दिर दिखाई देते हैं और वह कौन भक्त है, जो अपने प्रियतम के किसी भी मन्दिर को देखकर खुशी से उछल न पड़े ! प्रभु की सारी प्रजा फिर उसे अपना सम्बन्धी ही दिखाई देगी। वह किसी से भी द्वेष नहीं कर सकेगा। न ईर्ष्या, न स्पर्धा, न शत्रुता, कुछ भी बाकी न रहेगा। फिर तो वह यही गाता फिरेगा—

करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना।
मुहब्बत ने नहीं दिल में जगह छोड़ी अदावत[1] की॥

यही नहीं, अपितु यदि वह अपने भगवान् के किसी मन्दिर को मैला, टूटा हुआ या गन्दा देखेगा तो वह तत्काल ठीक करने में लग जायेगा। ऐसे भक्त मनुष्यमात्र से प्रेम करने लगते हैं। उनके लिए कोई बेगाना नहीं रहता। विशेष रूप से दुःखियों के लिए उनका प्रेम-स्रोत बह निकलता है। भक्त से मेरा तात्पर्य वह 'भक्त' नहीं, जो मनुष्यों से दूर भागकर वनों और पर्वतों की कन्दराओं में जा बैठे; प्रत्युत भक्त वह है, जो अपनी चिन्ता छोड़ प्रभु-मन्दिरों की चिन्ता करे। सच्चे भक्त का गुण ही यह है कि वह स्वयं हानि सहकर भी दूसरों को लाभ पहुँचाये। जिस प्रभु-मन्दिर में ज्ञान का दीपक नहीं जलता, भक्त का कर्त्तव्य है कि उसमें दीपक जलाये। जो मन्दिर अन्न-रूपी चूना-सीमेंट के अभाव से जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, भक्त को चाहिए कि उसकी ओर ध्यान दे।

निस्सन्देह, भक्ति से तात्पर्य यही लिया जाता है कि स्वर्ग मिल जाये या मोक्ष मिल जाये। जो सकाम भक्त होते हैं, वे सांसारिक सुखों की खरीदारी करते हैं। परन्तु सच्चा भक्त इन तीनों बातों से ऊपर उठ जाता है। वह न इस दुनिया का राज्य चाहता है, न स्वर्ग की इच्छा उसे सताती है और न ही वह मुक्ति के लिए उतावला होता है। वह आनन्द में लिप्त होकर कह उठता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्॥

---

१. शत्रुता।

"न मुझे राज्य की कामना है, न स्वर्ग और न ही मोक्ष की। हाँ, मैं यह समझता हूँ कि भगवान् मुझे संसार के दुःखों से तपे हुए लोगों के कष्ट-क्लेश को दूर करने की शक्ति प्रदान कर दें।" यही इच्छा उसे व्याकुल करती है और इसी धुन में वह रात-दिन लगा रहता है—

अपनी फ़िक्र न कुछ करें, प्रभु-प्रेम के दास।
सूई नंगी खुद रहे, और सबका सिये लिबास।।

भक्त के हृदय में अपने और पराये का भाव ही नहीं रहता। जब वह अपने और दूसरों के शरीरों को भगवान् के मन्दिर ही समझता है, तो फिर वह दूसरों के दुःख, कष्ट और क्लेश को अपना ही दुःख समझेगा और अपनी शक्ति-अनुसार उसे दूर करने का प्रयत्न करेगा, प्रत्युत दिन-प्रतिदिन नम्र ही होता चला जायेगा।

ऐसे भक्तों को भगवान् अपने दर्शनों से वंचित नहीं रखते, वे तो उन पर विशेष कृपा करते हैं। इन्हीं कुछ गुणों को धारण करने पर मनुष्य भगवान् के दर्शन कर सकता है। इन गुणों को किस प्रकार अपने अन्दर लाया जाय, इसके कुछ साधन आगे लिखे जाते हैं। मन को तैयार करने के लिए प्रतिदिन यह संकल्प करना चाहिए—

(१) मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ। यह माया तो निष्प्राण है, इसको गति देनेवाला मैं आत्मा हूँ। आज से मैं माया के प्रलोभनों में फँसूंगा नहीं। प्रथम तो फिसलूँगा ही नहीं, यदि ग़लती से फिसल भी गया तो तत्काल सँभल जाऊँगा। माया की क्या मजाल कि मुझ चेतन को दुःखी कर सके!

(२) नहीं-नहीं, मैं यह बुरा कर्म कदापि नहीं करूँगा। मेरी माँ मेरे पास है, वह मेरी रक्षा कर रही है।

(३) अब मैं खोटे सोने से कुन्दन बनता चला जा रहा हूँ। ये कष्ट, क्लेश तथा विघ्न तो केवल मेरे मल नष्ट करने के लिए आते हैं। मैं दुगुने बल से आत्म-दर्शन के मार्ग पर बढ़ जाऊँगा। मेरी माँ ने मेरा बाहु थाम रक्खा है, ठगिनी माया अब मुझे ठग नहीं सकती।

१२

मेरा शत्रु : मेरा मित्र

दिल सियह है, बाल सब अपने हैं पीरी में सफ़ेद।
घर के अन्दर है अँधेरा, और बाहर चाँदनी ।।

मेरे मन ! मेरा तू मित्र भी है और शत्रु भी है। तूने क्या-क्या खेल खेलाये हैं ! कैसे-कैसे नाच नचाये हैं ! कहाँ-कहाँ लिये फिरा है ! कब से मेरी नाक में नकेल डाले मुझे घुमा रहा है ! कितने जन्म बीत गए, कितने युग चले गये, कितनी सृष्टियाँ बनी और विगड़ गईं, कब से तू मुझे लिये फिर रहा है ? बतला तो सही ! आखिर कब तक अभी और कितने युगों, कितनी सृष्टियों, कितने प्रलयों और महाप्रलयों तक तू मेरी गर्दन पर सवार रहेगा ? बहुत हो चुकी, अब बस कर। थक गया हूँ तेरी इस यात्रा से, तेरे इन खेलों और तमाशों से। कुछ दया कर ! मेरे टूटे हुए शरीर को देख, मेरी टेढ़ी पीठ की ओर निहार, मेरी थकी हुई आँखों में झाँककर देख, मेरे श्वेत केशों को देख ! कितनी ही बार ऐसी याचनाएँ कितने ही जन्मों में कर चुका हूँ, परन्तु तू पत्थर का बना है या लोहे का, तूने मेरी कोई टेर नहीं सुनी। तू बार-बार मुझे कहीं-से-कहीं घसीटता हुआ लिये जा रहा है, मेरा एक-एक अंग टूटा जाता है। मेरे शरीर कई बार पिस गये—कभी तो विषय-वासनाओं के नुकीले काँटों में उलझा देता है, तब एक-एक नस-नाड़ी से रक्त प्रवाहित हो जाता है। मैं तड़पता हूँ और तू मेरी तड़प को देखकर खिलखिलाकर हँस देता है। ओ रे निर्दयी ! कभी तू क्रोध के जलते अंगारों की अंगीठी में मुझे फेंक देता है, मेरे शरीर का एक-एक रोम कम्पायमान हो जाता है, सब-कुछ जलने लगता है, आँखें लाल अंगारा बन जाती हैं, सारा शरीर ही जलने लगता है, और तू

इस तमाशे को चुपचाप देखता रहता है। तूने मेरा सब-कुछ लूट लिया है। मेरे देह-राज्य में तूने विप्लव मचा दिया। न आँखें काबू में रही हैं, न हाथ, न पाँव, न दूसरी इन्द्रियाँ। यह सारे-का-सारा देह-राज्य, जिसका मैं राजा कहलाता हूँ, बाग़ी हो चुका है। मेरी आज्ञा बिना ही यह कभी ज्वर को मेरी राजधानी में ले आता है, कभी किसी और रोग को। मैं चाहता कुछ और हूँ, यह करता कुछ और है। इसी प्रकार ओ मन! तूने मेरे आनन्द के केन्द्र में भी हलचल मचा दी है। ओ षड्यन्त्र रचनेवालों में शिरोमणि! तूने मेरा सब-कुछ लुटा दिया है। मैं अब न राजा हूँ, न धनी, कोई भी सम्पत्ति मेरे पास नहीं रही। सब-कुछ तू छीनकर ले गया तो फिर अब मुझे कंगाल को छोड़ दे। मेरी इस दयनीय अवस्था में भी, जबकि मुझमें एक पग और आगे रखने की शक्ति नहीं रही, तू चाबुक पर चाबुक लगाये जा रहा है। मेरी वेदना का, मेरी पीड़ा का, मेरी चिल्लाहट का और हाहाकार का तुझे कोई विचार नहीं आता! बस, अब बहुत हो चुकी। अब और सहन की शक्ति नहीं है। मैं अब तेरे चंगुल से मुक्त होता हूँ। परन्तु ओह! यह क्या? तू फिर मुझे लिये जा रहा है? कहाँ पटकेगा तू अब मुझे?

आकाशवाणी—

यह नहीं सुनेगा कुछ भी। यह तो तेरा सत्यानाश ही कर देगा। बचना है, तो एक ही उपाय है और वह यह कि अब तू इस पर सवार हो जा और इसे नकेल डालकर दृढ़ता से पकड़ रख! और फिर देख, यही मन जो तेरा शत्रु बना हुआ है, तेरा मित्र बनता है या नहीं। इसकी कोई बात न मान। यह खटाई खाने को माँगे तो इसे लवण दे, यह सैर करने को कहे तो कोठरी में बन्द कर दे, यह कोठरी में बैठे रहने को कहे तो इसे लम्बी यात्रा पर ले जा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन की मति चलिए नहीं, पलक-पलक मन और॥

परिवर्तन—

अब तो तू प्यारे! मित्र बन गया न? कितना अच्छा है तू, कितना आज्ञाकारी, कितना भला है तू! मेरे कितने ही बिगड़े काम सुधार दिये। मेरा हर काम कितनी ही तेज़ी से तू कर देता है और अब काम समाप्त करके किस उत्सुकता से तू फिर 'ओ३म्' के जाप में लग जाता है। याद है तुझे उस दिन की बात, जब मैंने तुझे कहा था 'आज भगवान् के पास ले चलो।' तब तूने कहा, 'मेरी गति वहाँ नहीं। हाँ, भगवान् के द्वार पर ले चलूँगा। उसे खटखटाकर भीतर जाने की आज्ञा भी ले दूँगा। परन्तु अन्दर नहीं जा सकूँगा।' और तब मैंने कहा था 'हाँ ऐसा ही सही', और तू मुझे मेरे अच्छे मन! अपने ऊपर सवार करके ले गया था। कितनी मनोहर थी वह यात्रा! कैसे दृश्य आये थे! कितने सुन्दर बाजे वजते थे! ऐसा प्रतीत होता था कि कोई बहुत निपुण वंशी बजा रहा है। तब एकदम ऐसी सड़क की ओर तुम मुड़े थे कि जहाँ सन्नाटा था, सब-कुछ ठहरा हुआ था—निस्तब्ध, एकदम निस्तब्ध! वायु भी नहीं चलती थी। प्राण अपान में मिलकर धीरे-धीरे नहीं, अपितु तेज़ी से, परन्तु पूर्ण शान्ति के साथ जा रहा था। उस समय एकदम सहस्रों सूर्य और चाँद भी एक-साथ प्रकाशित हो उठे थे। इतना प्रकाश था और ऐसा प्रकाश था कि जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती। उसी क्षण एक अतीव सुन्दर-मनोहर रंग-बिरंगा फाटक खुला था। उसके खुलते ही न जाने तू कहाँ चला गया, और तू ही क्यों? तब तो मुझे अपना भी पता नहीं रहा। न सूर्य रहे थे, न चाँद, न ही कुछ और। फाटक खुलते ही वह कुछ देखा जिसका वर्णन करने के लिए वाणी सारा वल लगाती है, परन्तु एक शव्द तो क्या, एक अक्षर भी नहीं कह सकती। आँखों ने देखा तो है पर वे मेरी आँखें न थीं, वे कोई और ही थीं। मेरे मित्र! एक बार फिर वहीं ले चलो। तुझसे मैं अब और कोई काम तो लेता नहीं, इसी मुख्य कार्य के लिए तुझे निश्चित कर रक्खा है। मेरा तू कोई और काम कर या न कर, परन्तु इस काम को करने पर मैं तुझे बाधित करता हूँ। मुझे तू वैकुण्ठ में न ले चल,

भक्त-देश में भी न ले चल; मुझे तू किसी और स्वर्ग की भी सैर न करा; मुझे तो वहीं ले चल, जहाँ प्रीतम के दर्शन से खुशहाल हो गया हूँ—

कहा करूँ बैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावने, जहँ प्रीतम गल बाँह ।।

ओ मेरे मन! तू अब कितना अच्छा हो गया है! मेरी प्रत्येक शुभकामना को पूर्ण करने में तू भरसक प्रयत्न करता है। तुझे अब वे पहली गन्दगियाँ पसन्द नहीं होतीं; न ही वे शरारतें अब तुझे आती हैं। क्यों भैया, वे पहली बातें याद करके तुझे लज्जा तो अवश्य आती होगी? कहो, तब आनन्द था या अब? दूसरों की गर्दनें काटने में अधिक खुशी मिलती थी या अब दूसरों के जीवन बचाने में अधिक प्रसन्नता होती है? अपने उस जीवन, इस जीवन को देख। भगवान् का धन्यवाद कर कि तेरे अन्दर परिवर्तन पैदा हो गया—

पहले यह मन काग था, करता जीवन-घात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुन-चुन खात ।।

□

१३

भक्त की पुकार

सा परानुरक्तिरीश्वरे ।[1]

प्रियतम ! न बल है, न शक्ति है। रोगी शरीर तेरी पूजा की सामग्री एकत्रित करने में भी असमर्थ है। तेरे इस मन्दिर की मरम्मत करने का भी अब साहस नहीं होता। न जप-बल, न तप-बल, न बाहु-बल, न धन-बल; किसके सहारे तेरे निकट पहुँचूं ? ऋषि यह कह गये हैं कि **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"** अर्थात् बलहीन व्यक्ति आत्म-प्राप्ति नहीं कर सकता। तो फिर क्या मैं यहीं पड़ा रह जाऊँगा, इसी भँवर में गोते खाने के लिए ? न मन्त्र आते हैं न तन्त्र, न यह जानता हूँ कि तेरी स्तुति कैसे करूँ, किन शब्दों में तुझे पुकारूँ। कोई शब्द ही मेरे पास नहीं है, फिर तेरे गुणों का वर्णन कैसे करूँ ? तेरा आह्वान कैसे किया जाता है, इससे मैं अनभिज्ञ हूँ। कहते हैं प्राण-अपान का संयोग कर देने से तू मिल सकता है। मुझे तो यह विधि भी नहीं आती। ध्यान कैसे लगाया जाता है, इससे भी मैं परिचित नहीं। कोई मुद्रा भी मैं नहीं जानता, न हठ-योग, न ध्यान-योग, न कर्म-योग, न ज्ञान-योग। किसी में भी मेरा अधिकार नहीं हो सका। किस विधि प्यारे तुझे पा सकूंगा, कोई मार्ग दिखलाई नहीं देता। रोना भी तो नहीं आता ! यदि रोऊँ भी तो क्या कहकर रोऊँ ? हाँ, केवल एक और निश्चित रूप से एक बात जानता हूँ कि तू मेरी माता है और ऐसी माता है जो क्लेश हरनेवाली है—

नहीं संयम, नहीं साधना, नहीं यज्ञ-व्रत-दान।
मात भरोसे रहत है, ज्यों बालक नादान ॥

---

१. शाण्डिल्य ऋषि का भक्तिदर्शन (१ । १ । २)

मैंने यह भी तो सुना है माता ! कि जब तक तुम अपनी कृपा का पात्र किसी को नहीं बनातीं, तब तक न उसकी मेधा काम आती है, न वेद पढ़ा कुछ लाभ पहुँचाता है; तुम स्वयं जिसको चुन लो, उसी को तुम्हारे दर्शन का अधिकार मिलता है।[१] तो मेरे ऊपर कृपादृष्टि कब होगी ? मैं कब तक तेरे द्वार पर खड़ा माँ-माँ पुकारता रहूँगा ? माँ, तूने अपनी वाणी में कहा है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० ४।३३।११)

पूर्ण प्रयत्न करके जब तक कोई थक नहीं जाता, तब तक ईश्वर की मित्रता प्राप्त नहीं होती, और मैं तो अब थक गया हूँ न ! कितनी दूर से चला हूँ ! चला क्या हूँ रींगता आया हूँ। माँ, तेरे चरणों में आ पड़ा हूँ। सारे अंग चूर हो गये हैं। मेरे जलभरे नेत्र, मेरा मलिन मुख, मेरी काँपती हुई भुजाएँ, माता ! क्या तेरे हृदय पर चोट नहीं करतीं ? माँ तो अपने शिशु को दुःखी देखकर एक क्षण की भी देर नहीं करती, सौ काम छोड़कर भी उसे गोद में उठाकर प्यार करती है, पवित्र स्तनों से अमृत पिलाती है। माँ ! मुझे भी ले-ले न अपनी गोद में ! उठा ले मुझे भी इस हीन-अवस्था से। पिला दे अमृत, पिला दे ! अब बहुत प्रतीक्षा न करा !

हर जननी ! मैं बालक तेरा, काहे न औगन बगसहु मेरा।
सुन अपराध करे दिन केते, जननी के चित रहे न तेते॥

पापों की गठरी कितनी भारी हो गई है ! अब तो उठाने की शक्ति नहीं रही। कितने ही भक्तों ने बतलाया है कि तू पापियों के पाप

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥
कठोपनिषद् १-२२-३॥ मुण्डक० ३-२-३॥

'यह आत्मा न वेद से पाया जा सकता है, न मेधा से, न बहुत सुनने से। हाँ, जिसको यह आप चुन लेता है, वही उसे पा सकता है, उसके लिए यह आत्मा अपना स्वरूप खोलता है।"

दूर हटा देता है, तू पतितों को उठाता है, तू अधर्मियों का उद्धार करता है। क्यों जी ! ये सब बातें क्या ऐसे ही कही जाती हैं ? यदि ऐसे ही नहीं तो मुझसे अधिक दयनीय और कौन होगा ? पतितपावन ! मेरे-जैसे पतित का उद्धार करके तुम बहुत बड़े पतितोद्धारक कहलाओगे। यदि तेरे द्वार से केवल अच्छे मनवाले और योगियों को ही शिक्षा मिलती है, केवल ज्ञानी ही तृप्त होते हैं, तो फिर मैं क्या व्यर्थ चिल्ला रहा हूँ ? कहो तो सही, सच्चे साहब ! स्वस्थ पुरुष या स्त्री को वैद्य के पास अथवा अस्पताल में जाने की क्या आवश्यकता है ? धनी भीख माँगने धनी के दरबार में क्यों जाये ? जिसके वस्त्र ठीक हैं, उसे दर्ज़ी का दरवाज़ा देखने की क्या ज़रूरत है ? फट गये हैं जिसके कपड़े काँटों से उलझ-उलझकर, वही दर्ज़ी को ढूँढता फिरेगा। जिसके मन-रूपी कपड़े हो गये हैं मैले, वही धोबी के पास जायेगा। ओ धोबी ! मैं मैले ही कपड़े लेकर तेरे पास आया हूँ—

धोबिया, दाग दिलाँ दे धो दे !

मेरा मन रोगी है ओ परम-वैद्य ! इसकी चिकित्सा कर दे। मेरे आर्त्तनाद को सुन और मेरी पीड़ा को हर दे। यदि तूने भी गुण और अवगुण देखकर ही भिक्षा देनी है तो तुझे 'समदर्शी' कहनेवाले यह वचन बोलने से पहले सौ बार सोच लिया करेंगे। सूरदास तो आपके इसी गुण को देखकर इकतारा हाथ में लिए रो-रोकर पुकार उठा था—

अवगुण चित न धरो प्रभु मेरे ! अवगुण चित न धरो !
समदर्शी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो ॥
इक नदिया इक नाल कहावत, मैलो ही नीर भरो।
जब मिलकर दोउ एक वर्ण भयो, सुरसरि[1] नाम परो ॥
इक लोहा पूजा में राख्यो, इक घर बधिक[2] परो।
पारस गुण-अवगुण नहीं देखत, कंचन करत खरो ॥
प्रभु जी, मेरे अवगुण चित न धरो !

---

१. गंगा २. कसाई।

यदि आपने तोल-माप ही से काम लेना है तो फिर हमें कोई और द्वार बतलाओ जहाँ हमें भी भिक्षा मिल सके, परन्तु—

तेरे दर को छोड़कर हम बेनवा जायें कहाँ ?
या बता दे और कोई अपने-जैसा घर हमें ।।

नहीं छोड़ेंगे तेरी चौखट। अब इसी द्वार पर प्राणों का अन्त होगा। कब तक तू नहीं सुनेगा ? हमें भजन करना नहीं आता, न सही। हमें गुण-वर्णन की विधि नहीं आती तो क्या हुआ ! हम तो तुझे पुकारते ही चले जायेंगे, तेरा ही नाम, हाँ तेरा ही नाम, और कुछ नहीं हम जानते, केवल तेरा नाम—

ओम् का सिमरन नित्य कर, जिस विधि सिमरा जाय।
कभी तो दीनदयाल जी, बोलेंगे मुसकाय ।।

और यदि तेरे द्वार से हमें उस समय तक भिक्षा नही मिलती जब तक हमारी त्रुटियाँ दूर नहीं हो जायेंगी, तो फिर चलो यही काम पहले कर दो, त्रुटियाँ दूर करनेवाला भी तू ही है। तूने ही तो वेद में कहा है कि कभी भीर आ बने तो मुझे पुकारो। अब तुझे पुकार रहे हैं। ले, तेरी पवित्र वाणी में अपनी टेर सुनाते हैं—

यदि दिवा यदि नक्तमेनाᳬसि चकृमा वयम् ।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वᳬ हसः ।।

यजु० २० । १५ ।।

"जो दिन में, जो रात्रि में, अज्ञात अपराधों को हम लोग करें, उस समग्र अपराध और दुष्ट व्यसन से हमें वायु के समान पृथक् कर दे।"

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनाᳬसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वᳬ हसः ।।

यजु० २० । १६ ।।

"यदि जागरित अवस्था में और यदि सोते हुए मैं किसी पाप को करूँगा अथवा करने की इच्छा रखता हूँ तो उस समग्र पाप और प्रमाद से सूर्य के समान मुझको मुक्त कर।"

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि
धर्मणि तस्यावयजनमसि ।। यजु० २० । १७ ।।

"हम लोग जो गाँव में, जो जंगल में, जो सभा में, जो मन में, जो शूद्र में, जो स्वामी या वैश्य में, जो एक के ऊपर धर्म में तथा जो अन्य अपराध करते हैं अथवा करनेवाले हैं, उन सबसे मुक्ति के साधन आप ही हैं।"

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ।। यजु० ३६ । २ ।।

"जो मेरे नेत्र की वा अन्तःकरण की न्यूनता वा मन की व्याकुलता है, उसको बृहस्पति परमेश्वर मेरे लिए पूर्ण करे। जो सब संसार का रक्षक है, वह हमारे लिए कल्याणकारी होवे।"

कहो, अब तो मेरी पुकार सुनोगे न ! तेरे ही वेद के अन्दर, तूने ही अपने ज़िम्मे जो कर्त्तव्य लिया है, उसी की याद तुझे दिला रहा हूँ। हम पाप से सर्वथा पृथक् रहना चाहते हैं, परन्तु ये फिर भी हो जाते हैं। अतएव तेरे सम्बन्धी जितने पाप होनेवाले हैं या जिनकी सम्भावना है उससे तो हमें अलग कर दे और हमारे मन में जो गड्ढे पड़ गये हैं, भगवन्, तू ही उन्हें भरने में समर्थ है। भर उन्हें, कर दे दूर त्रुटियाँ और एक बार ऐसी दृष्टि दे दे, जो तुझे ही देखती रहे, हाँ, तुझे ही !

□

१४

स्त्री जाति और भक्ति

जिस प्रकार का कोमल-स्वच्छ हृदय भक्ति के लिए आवश्यक है, वैसा स्त्रियों को विशेष रूप से भगवान् ने दिया है। इसलिए भक्ति में सबसे बड़ा अधिकार स्त्रियों का है। कार्डिनल न्यूमैन ने तो यहाँ तक लिख दिया है—"यदि ईश्वर से मिलना चाहते हो तो स्त्री बन जाओ।" इसका भाव यह नहीं कि पुरुष किसी प्रकार से वास्तविक रूप में स्त्री बन जाये; अपितु भाव यह है कि जैसा स्त्री का हृदय है, वैसा ही अपना हृदय बना लो। स्त्री के हृदय में भक्ति का फूल बहुत शीघ्र खिलता और बढ़ता है। स्त्री का हृदय दूसरों को दुःख और कष्ट में देखकर द्रवित हो उठता है, उसमें सेवा का अंश बहुत अधिक होता है; उसमें श्रद्धा और विश्वास का अंश पराकाष्ठा को पहुँचा होता है; उसका स्वर मधुर और वाणी मीठी होती है और ये सारे गुण[1] ऐसे हैं, जिनमें भक्ति का अंकुर खूब फूलता-फलता है। केनोपनिषद् में एक बड़ी सुन्दर कथा ब्रह्म को पाने के विषय में आती है। उससे भी यही ज्ञात होता है कि स्त्री ही ने आत्मा को ब्रह्म का पता दिया। कथा में कुछ और रहस्य भी खुल जाते हैं, इसलिए उसे सुन ही लेना चाहिए—

ब्रह्म ने अग्नि, वायु, आत्मा इत्यादि देवताओं का मान बढ़ाने के लिए उन्हें विजय प्राप्त करा दी। इस विजय को पाकर ये देवता अभिमान में आ गये कि संसार में सब शक्ति उन्हीं की है। यह जानकर ब्रह्म प्रकट हुआ और यक्ष के रूप में सामने आया। देवताओं ने

१. जब इन गुणों का वर्णन करता हूँ तो मेरा प्रयोजन देवी से है, "चुड़ैल" से नहीं।

कहा, यह कौन है ? तब अग्नि आगे बढ़ी। यक्ष ने पूछा, तू कौन है और तेरी शक्ति क्या है ? अग्नि ने कहा, मैं जातवेदा अग्नि हूँ और पृथिवी पर जो कुछ है, सबको जला सकती हूँ। यक्ष ने एक तिनका फेंककर कहा, इसे जलाओ। अग्नि पूरे बल के साथ आगे बढ़ी, परन्तु तिनके को न जला सकी। असफल हो अग्नि लौट गई और कहा, मैं नहीं जान सकी, यह यक्ष कौन है। तब वायु को कहा गया, तुम पहचानो, यह कौन है ? वायु दौड़ा गया और यक्ष से कहने लगा कि मैं वायु हूँ और सब-कुछ उड़ा सकता हूँ। यक्ष ने उसके सामने तिनका रखकर कहा, इसे उड़ाओ। वायु ने अपनी पूरी शक्ति लगाई किन्तु वह उसे उड़ा न सका। वायु ने भी लौटकर कहा—मैं इस यक्ष को जान नहीं सका। तब इन्द्र (आत्मा) को आज्ञा हुई कि तुम जाओ और पता लगाओ यह यक्ष कौन है। इन्द्र आगे बढ़ा तो क्या देखता है कि वह यक्ष लोप हो गया है। अभी वह आश्चर्य ही में खड़ा था कि आकाश में बहुत शोभा-युक्त, सुनहरी भूषणों से अलंकृत उमा नाम की एक स्त्री उसके सामने आई। इन्द्र ने उससे पूछा, यह यक्ष कौन है ? उमा देवी बोली कि यह ब्रह्म है और उसी की महिमा से तुम देवता महिमावाले हो।

इस कथा में ब्रह्म की पहचान एक स्त्री ने कराई है और बात है भी सत्य। शिव का पता उमा के सिवाय और कौन दे सकता है ? इस कथा में यह बताया है कि जड़ देवता अग्नि, वायु या मनुष्य के इन्द्रिय ब्रह्म को सर्वथा नहीं जान सकते, उसे केवल इन्द्र अर्थात् आत्मा ही जान सकता है और वह भी उमादेवी अर्थात् बुद्धि की सहायता से। बुद्धि को स्त्री के रूप में दिखलाकर यहाँ स्त्री को बड़ा महत्त्व दिया गया है, और स्त्रियाँ ऐसे महत्त्व की अधिकारिणी भी हैं। उनकी बुद्धि धर्म-कार्यों में, सूक्ष्म विषयों को समझने में और भक्ति-जैसे पवित्र क्षेत्र में शीघ्र ही अति दूर निकल जाने में बहुत तीव्र होती है, परन्तु यह अत्यन्त शोक की बात है कि दम्भी पुरुषों ने ऐसे पवित्र हृदयों का दुरुपयोग किया है और अपने गुरुडम और नीच वासनाओं के लिए

ऐसे कोमल हृदयों में अन्धविश्वास की आग जलाकर उन्हें भस्म कर दिया है। इसलिए स्त्रियों को पूरी सावधानी के साथ ऐसे लोगों से बचना चाहिए। स्त्रियों को स्त्रियों द्वारा ही उपदेश मिले तो अच्छा है। स्वामी दयानन्द जी ने कलियुग के ढोंगी गुरुओं की लीलाएँ देख-कर ही ऐसे गुरुडम के विरुद्ध आवाज उठाई थी। उसे सर्वदा सामने रखना चाहिए। परन्तु इसका प्रयोजन यह नहीं कि स्त्रियाँ प्रभु-भक्ति से वंचित रक्खी जायँ।

मनु ने तो यह कहा है कि—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनु० ५-१५५)

"स्त्रियों के लिए पृथक् यज्ञ-व्रत-उपवास नहीं है। केवल एक पति की सेवा करने से वे परम-पद को प्राप्त हो देवताओं द्वारा पूजित होती हैं।"

मनु भगवान् की यह आज्ञा, आजकल के धूर्त्त गुरुओं को देखें, तो सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। बात है भी सच। जब स्त्रियों ने पति को छोड़कर किन्हीं दूसरों की ही सेवा करनी है और उसी धन्धे और जंजाल में पड़े रहना है तो फिर उससे अच्छा है कि अपने पति ही की सेवा की जाय। पति-सेवा की महिमा बहुत बड़ी है। गांधारी ने तो यहाँ तक कह दिया था—

योगेन शक्तिः प्रभवेन्नराणाम्।
पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनानाम्॥

"पुरुषों को योग द्वारा शक्ति प्राप्त होती है और कुलांगनाओं (देवियों) को अपने पातिव्रत से।"

वाल्मीकीय रामायण ७-१-८ में यह कहा है—

पतिर्हि देवता नार्य्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

"नारी के लिए पति ही देवता, पति ही बन्धु, पति ही गुरु है।

नित्य प्राणों से भी प्रिय पति का प्रिय कार्य करना और उसी में प्रसन्न रहना स्त्री का स्वाभाविक धर्म है।"

यह सब सत्य है और स्त्रियों को पातिव्रत धर्म में आरूढ़ रखने के लिए यह उपदेश आवश्यक है, परन्तु पति-सेवा के साथ यह भी आवश्यक है कि आत्म-दर्शन के लिए भी कुछ प्रयत्न किया जाए। इसीलिए स्वामी दयानन्द जी ने 'सत्यार्थप्रकाश' में जहाँ पुरुषों के लिए योगाभ्यास लिखा है, वहाँ स्त्रियों के लिए भी यह आज्ञा दी है—"स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।" और फिर जब आत्म-दर्शन की सामग्री स्त्रियों के लिए मौजूद ही है तो ऐसी अवस्था में उन्हें प्रभु-दर्शन से वंचित रखना उचित नहीं है। यह सत्य है कि स्त्रियों को अपने पृथक् यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं; पुरुष कोई भी यज्ञ करे, साथ स्त्री का होना अनिवार्य है। वह यज्ञ पूर्ण ही नहीं हो सकता जिसमें पति के साथ पत्नी विराजमान न हो। किन्तु, भक्ति-यज्ञ से पृथक् एक ऐसी भावना भी है, जो एक अलौकिक और स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करने का अधिकारी बनाती है, और इसको प्राप्त करने का अधिकार सबको है। पुरुष और स्त्री को, बालक और बालिका को, वृद्ध और वृद्धा को, युवक और युवती को, ब्राह्मण और चाण्डाल को, धनी और निर्धन को, सबको यही अधिकार दिया गया है कि जब तुम्हें भगवान् का मन्दिर मिला है तो तुम अपने सांसारिक कर्त्तव्य करते हुए इस मन्दिर में आने के वास्तविक उद्देश्य को भी पूर्ण करो। और फिर स्त्री और पुरुष के अन्दर कौन है? वह न स्त्री है न पुरुष—वह केवल आत्मा है। देखिये तो सही, वेद भगवान् इस विषय में कितनी सुन्दर बात कहता है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥
(अथर्व० १०-८-२७)

वेद जीवात्मा का वर्णन करता हुआ कहता है—"तू स्त्री और पुरुष भी है, तू कुमार और कुमारी भी है, तुम्हीं वृद्ध होकर लाठी से चलते

हो, तुम जन्मते हुए अलग-अलग शक्लोंवाले हो जाते हो।"

यह केवल बाहर का ढाँचा स्त्री-पुरुष दिखलाई देता है, अन्यथा आत्मा का कोई लिंग नहीं।

स्त्रियों के लिए एक कठिनाई अवश्य है। वह यह है कि उन्हें बच्चों के पालन-पोषण तथा गृह-कार्यों में बहुत समय देना पड़ता है, और उन्हें आत्म-दर्शन की साधना के लिए बहुत कम समय मिलता है। परन्तु जहाँ उनके लिए यह कठिनाई है, वहाँ उनको भगवान् ने दूसरे ऐसे गुण दे रक्खे हैं जो इस त्रुटि और कठिनाई को दूर कर देते हैं। पुरुष को गायत्री के जाप या ओम् के जाप से जो लाभ एक वर्ष में हो सकता है, वही लाभ देवियों को ६-७ मास में प्राप्त हो जाता है। इसलिए बच्चों के पालन-पोषण तथा गृह-कार्यों से न घबराना चाहिए और न दिल तोड़ना चाहिए, अपितु इन कार्यों को एक तप का साधन समझते हुए प्रभु-स्मरण, आत्म-दर्शन और भक्ति का क्षेत्र तैयार करने के निमित्त वही विधि अपनानी चाहिए—पहले ओ३म् और गायत्री-मन्त्र के जाप से आरम्भ करना चाहिए। आगे वही विधि है जो पहले लिखी जा चुकी है। हाँ, स्त्रियों को आसन का ध्यान रखना चाहिए। उनके लिए दो ही आसन उपयोगी हैं—पद्म-आसन और सुख-आसन। इन दोनों में से किसी एक का इतना अभ्यास कर लें कि एक ही आसन में साढ़े तीन घण्टे[1] तो बैठ सकें। देर तक एक ही आसन में बैठने से टाँगें सोने लगेंगी, इन्हें सोने दीजिए। ये सुन्न हो जाएँगी, इसकी भी चिन्ता न कीजिए। आगे बढ़कर शरीर भी सुन्न हो जायेगा, इसकी भी चिन्ता नहीं करनी, और साधना को जारी रखना चाहिए।

पति-सेवा और दूसरे गृह-कार्य तो अवश्यमेव करने ही हैं। इनसे भागना नहीं। हाँ, इनके साथ भगवान् का सिमरन भी जारी रखना चाहिए। जिस प्रकार श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि "सब समय में निरन्तर भगवान् का स्मरण भी कर और युद्ध भी कर।" इसी प्रकार स्त्रियों को भी करना चाहिए। एक बहुत सुन्दर उपमा एक कवि ने

१. श्री महात्मा नारायण स्वामी जी का 'योगरहस्य' देखिए।

संसारी लोगों के लिए दी है कि किस प्रकार से इस संसार में रहना चाहिए। वह यह है—

ज्यूं त्रिया[1] पीहर[2] बसे, सुरति[3] रहे पियु[4] मांहि।
तैसे नर जग में रहे, हरि को बिसरे नांहि॥

संसार के कार्य करो, पति-सेवा भी करो, परन्तु इस उद्देश्य को न भूलो कि उस सब पतियों के भी परम पति के दर्शन के लिए यह शरीर मिला है।

जब विवाह-संस्कार होता है तो कन्या गोभिलीय गृह्यसूत्र का एक मन्त्र पढ़ती है कि मैं आज से पति के मार्ग पर जा रही हूँ ताकि मेरा जीवन सुखी तथा कल्याणकारी हो और पतियों का जो पति परमात्मा है उसके लोक में पहुँच सकूँ। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का वास्तविक उद्देश्य आत्म-दर्शन ही है, इसे सदा अपने समक्ष रक्खो।

□

---

१. स्त्री, २. मायके (माता के गृह), ३. ध्यान, ४. पति।

१५

भक्त की बात भगवान् से

आज तुझे अपना आर्त्तनाद सुनाता हूं, इसे सुन मेरे भगवन् ! यह तेरे भक्त के अन्तरात्मा की ध्वनि है—

तेरा सुखदायक हाथ !

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्त्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ।।

(ऋ० २-३३-७)

"हे दुःखनाशक ! वह तेरा सुखदायक हाथ कहाँ है जो दुःख-रोग हरने और आनन्द देनेवाला है, जो देव-सम्बन्धी पाप को दूर करने-वाला है ? हे सुख की वर्षा करनेवाले ! तू अब तो मुझे (अभिचक्ष-मीथाः) क्षमा कर।"

चूहे काट रहे हैं !

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्य स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव न भव ।।

(ऋ० १०-३३-३)

"हे बहुत कर्मवाले ! तेरे स्तोता होते हुए भी, मुझको मानसिक पीड़ाएँ विविध प्रकार से खा रही हैं, जैसे चूहे पान लगे सूत को खाते हैं। हे ऐश्वर्यवाले ! हे इन्द्र ! तू हमें एक बार अच्छी तरह सुखी कर दे और पिता की तरह हमारी रक्षा कर।"

हिमाद्रि पर्वत और सागर !

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(ऋ० १०-१२१-४)

"जिसकी महिमा को ये हिमाच्छादित पर्वत कह रहे हैं, और जिसकी महिमा को नदियों सहित यह समुद्र गा रहा है, ये सारी दिशाएँ जिसकी हैं और जो इसके बाहुओं के समान हैं, उस सुखस्वरूप परमात्मा का मैं हवि द्वारा पूजन करूँ।"

कब वह दिन आयेगा ?

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥
(ऋ० ७-८६-२)

"कब वह समय आएगा जब मैं अपने आत्मा से परमात्मा के साथ संवाद करूँगा ? कब मैं प्रभु का अन्तरंग बनूँगा ? कब वह प्रसन्न होकर मेरी भेंट स्वीकार करेगा ? कब मैं प्रसन्न हुए मन के साथ उस सुखदाता के दर्शन करूँगा ?"

वह पाप तो बता दे !

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥
(ऋ० ७-८६-३)

"हे वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! मैं दर्शन करने का अभिलाषी होकर तुझसे वह पाप पूछता हूँ जिसके कारण मैं बँधा हूँ। मैं जिज्ञासु, दर्शनाभिलाषी होकर तेरे समीप आया हूँ। ज्ञानी पुरुषों से भी विविध प्रकार से पूछता रहा हूँ। पूज्य विद्वान्गण सभी मुझे एक-समान ही उपदेश करते रहे हैं कि निश्चय से वह वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभु ही तुझपर रुष्ट है।"

तुझ तक कैसे पहुँचूँ !

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥
(ऋ० मं० ७, सू० ८६, मं० ४)

"हे वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! वह क्या अपराध है जिसके कारण अपने बड़े-से-बड़े उत्तम स्तुतिकर्त्ता, स्नेही मित्र को भी दण्ड-सा देना चाहता

है ? हे दुर्लभ ! मुझे वह उपाय बतला जिससे निष्पाप होकर भक्ति-भाव से विनीत होकर अतिशीघ्र चलकर तुझ तक पहुँच जाऊँ।"

तुम्हारी रक्षा में भगवान् !

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद्ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥
(ऋ० २-२३-५)

"उसको न किसी ओर से शोक प्राप्त होते हैं न दुःख, न उसको शत्रु दवाते हैं न वंचक। सारे वहकानेवालों को उस जन से परे हटाते रहते हो, जिसके रक्षक बनके हे प्रभो, तुम स्वयं रक्षा करते हो।"

ले चल भगवान् वहाँ !

यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥
(ऋ० ९-११३-११)

"जहाँ आनन्द-मोद बने रहते हैं, जहाँ मन की सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं वहाँ मुझे अमृत बना, हे भगवान्, वहाँ मुझे ले चल।"

मुझे मस्ताना बना दे !

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु ॥
(अथर्व० ६-१३०-४)

"ऐ वायुओ ! मुझे मस्ताना बना दो। ओ आकाश ! मुझे बेसुध कर दे। अग्ने ! तू भी मुझे प्रेमोन्मत्त कर दे। हाँ, वह (प्रभु) भी मेरे लिए विकल हो जाये !"

□

प्रतीक्षाकाल

अधीर हो उठनेवाले भक्त एक बात याद रक्खें और वह यह कि भगवान् के दर्शकों में यदि देर हो रही है तो इसके लिए बहुत घबराने की आवश्यकता नहीं। कितने ही भक्त जब इस मार्ग पर चलना प्रारम्भ करते हैं तो कुछ काल के पश्चात् ऊब-से जाते हैं। वे यह कहना शुरू कर देते हैं—कुछ पल्ले नहीं पड़ा, कुछ भी तो प्राप्त नहीं हो रहा। पहले तो मन ही नहीं टिकता था; यही नाना प्रकार के नाच नचाता रहता था; अब इसका नाच कुछ कम हुआ है तो आगे कुछ भी तो दिखाई नहीं देता—ऐसा कहनेवाले भक्त के लिए ही यह कहना है कि घबराये नहीं, भगवान् अभी आपको इसी अवस्था में रखना उचित समझता है। इसी अवस्था में रहने से आपका कल्याण है, और फिर यह अवस्था कोई ऐसी बुरी भी नहीं कि इसे त्याग दिया जाय। यह काल प्रतीक्षा-काल कहलाता है। निस्सन्देह, इसमें बहुत सन्तोष और धैर्य की आवश्यकता है, परन्तु एक सच्चा प्रेमी तो मिलाप की अपेक्षा इस प्रतीक्षा में अधिक आनन्द अनुभव करता है। एक उर्दू कवि ने क्या अच्छा कहा है—

> वस्ल[1] में हिज्र[2] का ग़म, हिज्र में मिलने की खुशी।
> कौन कहता है जुदाई से विसाल अच्छा है?

क्यों जी! जब श्री राम ने वन को चले जाना था, तब राम घर में ही थे और जब अन्तिम रात आ पहुँची थी, तब अयोध्यावासी प्रसन्न थे या जब राम अयोध्या से दूर वन में थे और वनवास की घड़ियाँ दिन-प्रतिदिन समाप्त होती चली जा रही थीं, तब खुश थे? पहली

१. प्रियतम-मिलन। २. बिछुड़ना।

अवस्था मिलाप की है, परन्तु लोग अधीर थे। दूसरी अवस्था विछोह की है, परन्तु लोग प्रसन्न हो रहे थे। यह एक सांसारिक प्रेम की उपमा है। इसी प्रकार प्रभु-मिलन की प्रतीक्षा के समय को भी आनन्ददायक समझना चाहिए। यही वह समय होता है जब भक्त नित्य-नये चाव से अपने मन-मन्दिर को साफ करता है, अश्रुधारा बहाकर मन-मन्दिर के फ़र्श को धोता है, उसके मार्ग पर अश्रुजल से ही छिड़काव करता है—"मेरे प्रियतम अवश्य आयेंगे। आज तो विशेष यत्न से मन-मन्दिर की सजावट करनी होगी। दिनभर, रात्रिभर, श्रद्धा-प्रेम और भक्ति के पुष्पों की माला लिये मार्ग देखना होगा। अभी आये कि अभी आये! अभी द्वार खुला कि खुला!" कितनी बार भक्त कोई आहट पाकर, प्रकाश की ज्योति का कोई चिह्न पाकर बहुत प्रसन्न हो जाता है—"वे आ गए! वे फाटक खुल गए!" परन्तु फिर प्रतीक्षा आरम्भ हो जाती है और इसी प्रकार कितनी रातें, कितने दिन, कितनी बरसातें, कितनी सर्दियाँ बीत जाती हैं। भक्त बैठा है, वृत्ति टिकाए हुए। उसे अब इसी अवस्था में आनन्द आने लगता है। प्रातः से सायं, सायं से प्रातः होता है और भक्त उसी प्रकार नित्य मन-मन्दिर को सजाता है, धोता है और 'किसी' के आने की प्रतीक्षा करता है। भक्त इस प्रतीक्षा में घबराता नहीं। वह तो दृढ़ता से नित्य-प्रति मन-मन्दिर में बैठकर उसका द्वार खटखटाता ही चला जाता है और कहता है—

> बैठे हैं तेरे दर[1] पे तो कुछ करके उठेंगे।
> या वस्ल[2] ही मिलेगा या मरके उठेंगे॥

परन्तु इस मार्ग में मरने की आवश्यकता नहीं पड़ती, मिलाप हो ही जाता है—आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। अतएव भक्त को यदि जल्दी मिलाप नहीं होता तो उसे घबराना नहीं चाहिए। इस प्रतीक्षा-काल में श्रद्धा की मात्रा बढ़ाते ही चले जाना चाहिए, संशय को निकट नहीं आने देना चाहिए। इसके साथ ही एक दूसरी बात भी सम्मुख रखनी चाहिए,

१. द्वार। २. मिलाप।

और वह यह कि अधीर हो उठने अथवा ऊब जाने से तो काम नहीं बना करता। जब किसान बीज बोता है तो क्या वह इसका फल तत्काल पा लेता है ? नहीं, उसे प्रतीक्षा करनी होती है। कितने ही दिन, कितने ही महीने वह प्रतीक्षा में व्यतीत करता है। कभी आकाश की ओर दृष्टि लगाये वर्षा की प्रार्थना करता है, कभी तूफान से बचने की प्रार्थना करता है और फिर भी प्रतीक्षा करता है। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण 'ऐपक टिटस' फिलॉसफर ने दिया है, जिसका वर्णन श्री लाला दीवानचन्द जी एम० ए०, प्रिंसिपल दयानन्द कॉलेज, कानपुर ने अपनी पुस्तक 'जीवन-रहस्य' में किया है। 'ऐपक टिटस' कहता है—"कोई बड़ी वस्तु तत्काल पूर्णता को नहीं पहुँचती। एक मामूली अंगूर के गुच्छे या अंजीर के पकने के लिए भी समय की आवश्यकता होती है। यदि तुम मुझे कहो कि इसी समय तुम्हें अंजीर दे दूं तो मैं कहूँगा कि इसके लिए समय चाहिए। पहले वृक्ष पर फूल खिलने दो, तब फल लगेंगे और फिर पकेंगे। जब एक अंजीर तत्काल पककर तैयार नहीं हो सकती तो मनुष्य के मन का फल तुम थोड़े-से काल में कैसे प्राप्त कर सकते हो ?" मन के बनाने में जब आप लग गए हैं तो इसका फल शीघ्र ही मत चाहो—लगे रहो—समय बीतने दो, अच्छे किसान की तरह पूरी निगहबानी करो और तब फल भी मिल ही जायेगा।

□

१७

भक्तों के लिए उपयोगी बातें

१. उषा-काल से पहले ३ अथवा ४ बजे विस्तर से उठ जाना चाहिए।

२. रात को सोते समय 'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' के सारे मन्त्र इस प्रकार से उच्चारण करने चाहिएँ कि अपने कानों को भी सुनाई दें।

३. ओ३म् का जाप चलते-फिरते भी करते रहना चाहिए।

४. पेट को न बहुत भरना चाहिए, न बहुत खाली रखना चाहिए।

५. बहुत थका देनेवाला व्यायाम नहीं करना चाहिए। हल्का व्यायाम नित्यप्रति करना चाहिए। जिस दिन किसी विशेष कारण से व्यायाम न हो सके, उस दिन मानसिक व्यायाम ही कर लिया करें।

६. अभ्यास, ध्यान, भजन तथा जाप नित्य समय पर और पूरे नियम और सावधानी के साथ करने चाहिएँ।

७. अपने घर में कोई एक स्थान नियत कर लो और प्रयत्न करो कि भजन के लिए नित्य वहीं बैठा करो।

८. संसार अनित्य है। मनुष्य अन्न की तरह पकता है और अन्न की तरह उत्पन्न होता है। मरना मनुष्य के लिए नियत है, यह अनहोनी बात नहीं। (कठ)

९. परमात्मा की प्राप्ति का उपाय यह है कि वाणी आदि सारी इन्द्रियों को मन में रोके, मन को बुद्धि में रोके, बुद्धि या ज्ञान को महान् आत्मा (महत् तत्त्व) में रोके और उस महान् को शान्त आत्मा में रोके। (कठ)

१०. मूर्ख बाहरी और सांसारिक कामनाओं के पीछे जाते हैं और वे मृत्यु की फाँसों में पड़ते हैं, और धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर वहाँ अस्थिर वस्तुओं की कामना नहीं करते। (कठ)

११. जो अकेला सारे संसार की हर प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करता है, उसको पुरुष अपने आत्मा में स्थिर रखता है, उसको सदा की शान्ति होती है।

१२. ब्रह्म-लोक उनके लिए है जिनमें तप और ब्रह्मचर्य हैं और जिनमें सचाई स्थिर है, जिनमें कोई कुटिलता नहीं और कोई छल नहीं। (प्रश्न)

१३. ओम् धनुष है, आत्मा तीर है, और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहलाता है। इसको पूरा सावधान पुरुष बींध सकता है। (मुण्डक)

१४. जो सबको जानता है और सबको समझता है, जिसकी यह प्रत्यक्ष इस भूमि पर महिमा है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर (हृदय के आकाश) में रहता है। (मुण्डक)

१५. सत्य, तप, वास्तविक ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा सदा पाया जाता है। (मुण्डक)

१६. जिस प्रकार की कामनाओं का विचार करता हुआ मनुष्य मरता है, उन्हीं कामनाओं के अनुसार जन्म लेता है। (मुण्डक)

१७. अन्न की कभी निन्दा न करे, यह व्रत है; अन्न को परे न हटाए, उसका अनादर न करे, यह व्रत है; अन्न का बहुत सम्मान करे, यह व्रत है; अतिथि को अपने घर से कभी वापस न करे, यह व्रत है। (तैत्तिरीय)

१८. पुरुष को चाहिए कि "ओम्" इस अक्षर की उपासना करे। इस ओम् ही से सारे वेद प्रवृत्त होते हैं। (छान्दोग्य)

१९. यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, धान से छोटा है, जौ से छोटा है, सरसों से छोटा है, सिमाक (सवांक) से छोटा है, सवांक के चावल से भी छोटा होता है।

यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, पृथिवी से बड़ा है, अन्तरिक्ष

से बड़ा है, द्यौ से बड़ा है, इन सब लोकों से बड़ा है। सारे कर्म, सारी कामनाएँ, सारे सुगन्ध और सारे रस उसके हैं। वह इस सबको घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं, वह बेपरवाह है। यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर, यह ब्रह्म है, इसको मैं यहाँ मरकर प्राप्त हूँगा, ऐसा जिसका पूरा विश्वास है और कोई सन्देह नहीं, वह उसे पा लेता है।
(छान्दोग्य)

२०. एक सन्दूक है यह संसार, जिसका निचला तल पृथिवी है, ऊपर का ढकना द्यौ है और पेट अन्तरिक्ष है और मनुष्यों के कर्म, साधना और फलों का खज़ाना इसमें भरा है। (छान्दोग्य)

२१. जैसे शिकारी के तागे से दृढ़ बँधा हुआ कोई पक्षी दिशा-दिशा में उड़कर—फड़फड़ाकर—और कहीं आश्रय न पाकर उसी स्थान का आश्रय लेता है जहाँ वह बँधा हुआ है, ठीक उसी तरह यह मन दिशा-दिशा में घूमकर और कहीं आश्रय न पाकर प्राण का ही सहारा लेता है क्योंकि यह मन प्राण में बँधा हुआ है। (छान्दोग्य)

इसीलिए मन को काबू करने के लिए प्राण को काबू करना आवश्यक है।

२२. फूटे घड़े में भरे हुए जल के समान मनुष्य की आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। वृद्धावस्था सिंहनी के समान समीप में ही गर्जना कर रही है। मृत्यु सिर पर सदा नाच रही है। लक्ष्मी छाया के समान चंचल है। यौवन जलतरंग के समान क्षणभंगुर है। अतएव जो समय है, इसी में भगवान् का भजन कर लो।

२३. आत्म-प्राप्ति और प्रभु-प्रेम का सबसे बड़ा और स्वच्छ राजमार्ग केवल ब्रह्मचर्य है। बिन्दु के क्षरण से मृत्यु और इसके रक्षण से अमृत मिलता है।

२४. अपने नेत्रों को चंचल न होने दो, स्त्रियों की ओर गहरी दृष्टि से न देखो; ब्रह्मचारी के मन में यह क्षोभ उत्पन्न कर देती है।
(दयानन्द)

२५. 'सङ्गः सत्सु विधीयताम्' (साधन पंच कर) सन्तों का संग करो।

२६. 'अलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः।' सन्त प्रसन्न हुए परम सुख के कारण होते हैं। (महाभारत)

२७. 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम'—भगवत्सम्बन्धी अच्छी भद्र बात कानों से सुनें। (ऋग्वेद)

२८. 'भद्रं नो अपिवातय मनः'—हे प्रभो ! हमारे मन को भली बातों की ओर प्रेरित कीजिए। (सामवेद)

२९. भक्त के लिए कर्मों का त्याग नहीं, किन्तु स्वार्थमय कर्मों का त्याग आवश्यक है।

३०. परमात्मा में पूर्ण अनुरक्ति का प्रयोजन यह है कि संसार के प्रति निस्स्वार्थ प्रेम और उसकी विशुद्ध सेवा हो।

३१. इस अनित्य संसार में आकर अनित्य जीवन धारण कर अनित्य सुख-ऐश्वर्य में भूलकर आत्म-कल्याण को नहीं भूलना चाहिए।

३२. सत्पुरुषों का संग भक्त के लिए आवश्यक है; यह बहुत-से संशय मिटाकर विज्ञान बढ़ाता और मन को निश्चय करने में बड़ा सहायक होता है।

३३. दुर्जन मनुष्य विद्वान् हो, तो भी उसका संग छोड़ देना चाहिए; मणि से भूषित साँप क्या भयंकर नहीं होता ?

३४. भक्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने हृदय में भगवान् के लिए प्रबल पिपासा को जगा दे। जब इस पिपासा से भक्त बेकरार हो उठता है तो फिर भगवान् की ज्योति सहज में प्राप्त हो जाती है।

३५. ओ भगवान् का आह्वान करनेवाले भक्त ! यह क्या कर रहा है ? पवित्रता के उस स्रोत को मैले मन में कैसे ला सकेगा ? इसे पहले शुद्ध कर ले ! कुछ त: कूड़ा-करकट हटा ले, फिर उसे भी बुला लेना। भक्त ने कहा, मैं इसीलिए तो उसे भी बुलाता हूँ कि मैं हार गया हूँ; मुझसे मैला मन साफ नहीं होता, असमर्थ हो चुका हूँ। भगवन्, अब कृपा कर दो न !

३६. किसी को पीड़ा दिये बिना, किसी को सताये बिना, किसी की हानि किये बिना अपने बाहुबल अथवा मस्तिष्कबल से जो धन वा अन्न कमाया जाता है, वही मन को शुद्ध रख सकता है।

३७. वाणी में मिठास नहीं है, और सत्य बोल रहा है, तो भी ठीक नहीं। सत्य बोलो परन्तु ऐसा जो कड़वा न हो—दूसरों के हृदय चीर डालनेवाला न हो।

३८. मन, वचन और काया-कर्म, तीनों से दूसरों का उपकार करते रहना ही सन्त-भक्तों का सहज स्वभाव हुआ करता है।

३९. अच्छे भक्त-जनों का संग बड़ी कठिनाई से पुण्य रहने पर ही प्राप्त होता है। मनुष्य का अच्छा या बुरा होना सब संगति पर निर्भर है। जल की बूंद वही है किन्तु जलते हुए तवे पर पड़ने पर उसका नाम तक नहीं रहता। वही बूंद कमल के पत्ते पर पड़ने से मोती-सरीखी दिखाई देती है। समुद्र की सीप में जब वह गिरती है तो मोती बन जाती है। यह संग का फल है।

४०. जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-रक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उसका वीर्य विचाराग्नि का इंधनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। (सत्यार्थप्रकाश)

४१. स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है। और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता है और अपने चरित्र को नहीं सुधारता, उसकी स्तुति करना व्यर्थ है। (सत्यार्थप्रकाश)

४२. एक बार यदि मन भगवत्-रस का स्वाद पा ले तो फिर कामना पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

४३. पुरुष यदि काम को बार-बार अस्वीकार करे, त्याग करे, उसके खेल में तनिक भी साथ न दे तो प्रकृति से वह सम्पूर्ण रूप से अलग हो जाता है और यही संयम की वास्तविक साधना है।

४४. मनुष्य का यही नज़र आनेवाला स्थूल शरीर ही नहीं है, इसके अतिरिक्त जीव का एक और देह है जिसे सूक्ष्म शरीर या लिंग-शरीर कहा जाता है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, और पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह उपादान हैं। इस सूक्ष्म शरीर ही में वासनामय संस्कार चिपटे रहते हैं, और इन्हीं के फलस्वरूप जीव पर-वश होकर कर्म करने को बाध्य होता है। इन्हीं वासनाओं का नाश करना भक्त का कर्त्तव्य है।

४५. वासनाओं के नाश करने का प्रथम साधन यह है कि मन में वैराग्य उत्पन्न करो, परन्तु अपने इस वैराग्य को किसी पर प्रकट मत करो! भीतर-ही-भीतर वैराग्य की बेल को बढ़ाते जाओ। यदि चुपचाप वैराग्य को बढ़ाते जाओगे तो वासनाएँ अपने-आप भागने लगेंगी।

४६. नम्र वाणी, विनय और प्रेम का प्रदर्शन चाहे जितना भी करो, घर में रह रहे हो तो भाइयों से, सबसे नम्र वाणी का प्रयोग करो।

४७. अपने जीवन को सादा बनाओ। बहुत थोड़ी वस्तुओं से निर्वाह करो। जितनी भी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ कम करते चले जाओगे, उतना ही अधिक परमात्मा के निकट होते चले जाओगे।

४८. यदि भगवान् की कृपा के पात्र बनने की अभिलाषा है तो भगवान् जिस स्थिति में रक्खे, उसी में सन्तुष्ट रहने की बान डालो।

४९. तुम्हारे शत्रु सावधान हैं, तुम्हें नष्ट कर देने का मौका ढूँढ रहे हैं। सुन्दर, मन-लुभावने तथा हृदय-आकर्षक दृश्यों और कामनाओं में फँसाकर ये तुम्हें निर्बल कर देंगे और फिर तुम्हें लूट लेंगे। ओ युवक! अपनी जवानी के बल से इन काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार-रूपी शत्रुओं पर विजय पा ले, नहीं तो वृद्धावस्था में ये बुरी तरह तुम्हें सतायेंगे और आनन्द का सारा कोष लूट ले जायेंगे।

५०. जब जीव मन, वाणी और कर्म से किसी का अनिष्ट नहीं करता, काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मनोमलों को त्याग देता है, तब भगवान् का प्यारा बन जाता है।

५१. धीरे-धीरे बहिर्मुखता का त्याग करके अन्तर्मखता का सम्पादन करना ही साधना तथा भक्ति का सच्चा स्वरूप है।

५२. मन के चार प्रकार हैं—(१) धर्म के विमुख जीव का मन मुर्दा है। (२) पापी का मन रोगी है। (३) लोभी तथा स्वार्थी का मन आलसी है। (४) भजन-साधन में तत्पर भक्त का मन स्वस्थ है।

५३. पहले तो मनुष्य-जन्म पाना ही दुर्लभ है; वह मिल गया तो मानो संसार-सागर से पार होने के लिए नौका मिल गई; परन्तु इस नौका को खेनेवाला कोई गुरु मिले और भक्ति की अनुकूल वायु मिले, तभी वह पार जा सकेगी। इसलिए वीतराग अनुभवी गुरु और भक्ति की शरण लो। कहीं ऐसा न हो कि नौका पड़ी-पड़ी बेकार हो जाय।

५४. कोई भी काम करने लगो तो याद रक्खो कि ईश्वर तुम्हें देख रहा है। यदि ऐसा ध्यान रक्खोगे तो कोई भी खोटा कर्म तुम नहीं कर पाओगे।

५५. सत्य और धर्म की रक्षा दृढ़ता से होती है। जिसे प्राणों का मोह है, वह कर्म-धर्म का पालन कर ही नहीं सकता।

५६. इसे मत भूलो कि किसी विषय में घुसना बहुत सहज है किन्तु फिर उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। सँभल जाओ ! भूलकर भी, क्षण-मात्र के लिए भी विषयों में मत फँसो।

५७. जिस प्रकार वायु की सहायता पाकर आग शुष्क तृण-समूह को जला देती है, इसी प्रकार चित्त में वासनाओं, पाप-वृत्तियों को जलाने के लिए भगवान् की भक्ति समर्थ होती है।

५८. जिह्वा का स्वाद जब भक्त को घेर लेता है और वह अधिक खाने लगता है तो भक्ति रोने लगती है; भक्त भक्ति से दूर हो जाता है।

५९. विपत्ति, कष्ट-क्लेश और दुःख में धैर्यवान् रहनेवाला और उन्हें प्रसन्नता से सहकर फिर उभर आनेवाला मनुष्य अपने-आप को प्रभु-कृपा का पात्र बना लेता है।

६०. प्राणियों के देह धारण करने की सफलता इसी में है कि

निर्दम्भ, निर्भय और शोकरहित भगवान् के गुणगान और भक्ति में तत्पर रहें।

६१. संत-समागम निस्सन्देह दुर्लभ है। महात्मा सुन्दरदास जी ने क्या सुन्दर कहा है—

तात मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।
राज मिलै गज-बाज मिलै सब साज मिलै मन-वांछित पाई।।
लोक मिलै सुरलोक मिलै विधिलोक मिलै वइकुण्ठहुं जाई।
'सुन्दर' और मिलै सब ही सुख, दुर्लभ सन्तसमागम भाई।।

६२. तीक्ष्ण धारावाली नदियों में जिस प्रकार कोई तृण शान्त नहीं रहता, बहकर इधर-उधर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-हीन मनुष्य के चंचल हृदय में कोई साधन-विवेक नहीं टिकता, इधर-उधर बह जाता है।

६३. जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप होने से सब दोष-दुःख छूट-कर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। (सत्यार्थप्रकाश)

६४. परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी वह नहीं घबरायेगा। (सत्यार्थप्रकाश)

६५. विपत्ति यथार्थ में विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति यथार्थ में सम्पत्ति नहीं। भगवान् का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणां विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।।

६६. हे जगद्गुरो ! हम पर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि आपके दर्शन विपत्ति में ही होते हैं।

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम्।।

६७. मुंह के चमड़े सिकुड़ गए, सिर के बाल श्वेत हो गए, सब अंग ढीले हो गए, पर एक तृष्णा ही तरुण हुई जा रही है। (भर्तृहरि)

६८. आशा नाम की एक नदी है। इसमें मनोरथ-रूपी जल भरा है। इसमें तृष्णा-रूपी लहरें हैं। राग ही इसमें मगर हैं। नाना प्रकार के तर्क-वितर्क पक्षी हैं। यह नदी धैर्य-रूपी पेड़ तोड़ देनेवाली है। मोह ही इसके कठिन भंवर हैं और चिन्ता-रूपी इसके ऊंचे किनारे हैं तथा शुद्ध मननशील योगी ही इसके पार जाकर आनन्द करते हैं।

(भर्तृहरि)

६९. भोग वैसे ही चंचल हैं जैसे ऊँचे पानी की लहर। प्राण क्षण-भर में नाश होनेवाले हैं। प्रियाओं में रमनेवाली जवानी के सुख की स्फूर्ति केवल दो-चार दिन की है। इसलिए हे ज्ञानी पण्डितो ! इस अखिल संसार को निस्सार समझ, लोकानुग्रह के विषय में मन को अनुरक्त कर, ब्रह्म का ध्यान करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ?

(भर्तृहरि)

७०. मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की परिमित है। उसका आधा भाग तो रात में ही बीता जाता है। उस बाकी का आधा लड़कपन और बुढ़ापे में चला जाता है। बाकी रोग, व्याधि, वियोग, दुःख, सेवा आदि में बीतता है। यह जीवन जल-तरंग के समान चंचल है। इसमें प्राणियों को सुख कहाँ ? (भर्तृहरि)

७१. जब तक शरीर नीरोग और स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की शक्ति न्यून नहीं हुई है और आयु भी क्षीण नहीं है, तभी तक अपने कल्याण के लिए पण्डित को यथाशक्ति यत्न कर लेना चाहिए। नहीं तो घर में आग लगने पर कुआँ खोदने की बात कैसी है ?

(भर्तृहरि)

७२. सूर्य चाहे कमल को कितना ही ताप दे, कमल का मुँह उसके सामने सदा खुला रहेगा। तुम चाहे मेरे कष्टों का निवारण न करो, मेरा हृदय तो तुम्हारी ही दया से द्रवीभूत होगा। यदि माता किसी कारण से बच्चे को अपनी गोद से उतार भी देती है, तो भी बच्चा

उसी में अपनी लौ लगाये रहता है। यदि पति अपनी पतिव्रता का सबके सामने तिरस्कार भी करे, तो भी वह उसका परित्याग नहीं करती। इसी प्रकार भगवन्! मैं तुम्हें कैसे छोड़ सकता हूँ?

(भक्त कलशेखर)

७३. जिनका चित्त अखिल सौन्दर्य के भण्डार परमात्मा (सुभव सुपेशसं) में लगता है, वे क्या मनुष्य के क्षणभंगुर घृणित रूप पर आसक्त हो सकते हैं? (देवि)

७४. ईश्वर ने हम लोगों को जो कुछ भी दिया है, वह बटोरकर रखने के लिए नहीं है, प्रत्युत योग्य पात्र को देने के लिए है।

(ज़रथुस्त)

७५. जो लोगों के अत्याचारों से व्यथित नहीं होते, वही महापुरुष हैं। (मंसूर)

७६. पश्चात्ताप करो, पश्चात्ताप! आज तक जो कुछ भी हो चुका, उस पर पश्चात्ताप करो। आँसू बहाकर मन का मैल दूर करो और भगवान् से कहो—महाराज! आज से अपने चरणों में स्थान दो। और कुछ दो या न दो, परन्तु अपनी भक्ति का भाव अवश्य दो। पश्चात्ताप का रुदन मनुष्य के हृदय में अलौकिक शान्ति ले आता है।

७७. जब लोग मुझे पागल कहेंगे और मुझे अपने काम का न समझेंगे, जब सांसारिक लोग मुझे परे हटा देंगे, तभी मेरे मन में वास्तविक तत्त्व का प्रकाश होगा।

७८. सुख-दुःखों की स्थिति कर्मानुसार होने से उनका अनुभव सबके लिए अनिवार्य है, इसलिए सुख का अनुभव करते समय भी भगवान् को याद रक्खो और दुःखकाल में भी उसकी निन्दा न करो, अपितु भगवान् का धन्यवाद करो कि उन्होंने आपके मन की मैल को दूर करने का उपाय किया है। दुःख को तपस्या और प्रायश्चित्त का रूप समझो।

७९. समय क्यों खो रहे हो? व्यर्थ की बातचीत से क्या लाभ? भगवान् में ही अपने चित्त को लगाओ। (माध्वाचार्य)

८०. भगवान् ने तुम्हें जिह्वा क्यों दी ? एक भक्त इसका यह उत्तर देता है—

जिह्वा तो तब ही भली, जपे हरी का नाम।
नहीं तो काट निकालिए, मुख में भलो न चाम ।।

८१. यज्ञ से शेष बचे अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर-पोषण के लिए ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं। (गीता)

८२. जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता-रहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित हुआ व्यवहार करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है ।

८३. नाश हो गए हैं सब पाप जिनके और ज्ञान-प्राप्ति से निवृत्त हो गया है संशय जिनका, और सम्पूर्ण प्राणियों के हित में है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवान् के ध्यान में चित्त जिनका, ऐसे ब्रह्म-वेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (गीता)

८४. न धन चाहिए न मकान, न वाटिका चाहिए न दुकान, भाई ! भगवान् की भक्ति के लिए केवल हृदय चाहिए, और हृदय भी वह जो प्रेम, पतिव्रत तथा पुरुषार्थ से सना हुआ हो ।

८५. जीवात्मा इन्द्रियों के वश होकर निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है, और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है। (मनु)

८६. जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्धि होती है, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। (मनु)

८७. यह निश्चित है कि जैसे अग्नि में ईंधन और घी डालने से वृद्धि होती है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है, इसलिए मनुष्य को विषयासक्त न होना चाहिए। (सत्यार्थप्रकाश)

८८. किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता परन्तु जिस समय

अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते; तथापि निश्चय जानो कि अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।

८९. जो प्राप्त के अयोग्य की कभी भी इच्छा न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को प्राप्त न हो, अर्थात् व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् पण्डित है। (मनु)

९०. जब तक संसार हमारे मन में बसा हुआ है, तब तक भगवान् दूर प्रतीत होते हैं। जैसे ही संसार हटा, समझो कि मन में भगवान् का प्रकाश आया। बुल्लेशाह ने एक बार प्याज़ की पनीरी लगाते हुए कहा था—

बुल्ला रब दा की पाना।
एधरों पुटना ओधर लाना॥

९१. प्रभु का विस्मरण ही मृत्यु है, प्रभु का स्मरण ही जीवन है—यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः।

९२. घट-शुद्धि के लिए ओम् नाम का जप बहुत आवश्यक है। अनुभवी जनों ने बताया है कि नाम-जप के साथ ओम् का ध्यान भी किया जाय तो बहुत शीघ्र सिद्धि होती है।

९३. नित्य धर्म का संचय करते चले जाओ; धर्म ही की सहायता से बड़े-बड़े दुस्तर दुःख-सागर को जीव तर जाता है। (मनु)

९४. जो मिथ्या भाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों के करनेवाला है। (मनु)

९५. प्रभु-प्रेमी की वाणी तथा नेत्र आदि से प्रेम की वर्षा होती रहती है। उसका मार्ग प्रेम से पूर्ण होता है।

९६. जो देहधारी है, वह दुःख-सुख का बहुत ध्यान न रक्खे। (छान्दोग्य)

९७. मछली का जल में, पपीहे का मेघ में, चकोर का चन्द्रमा में जैसा प्रेम है, वैसा ही हमारा प्रेम प्रभु में हो—एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले।

९८. मानव-शरीर भव-सागर से पार होने के लिए एक प्रकार की सुन्दर नैया है, यह वन्धन का हेतु नहीं।

९९. वैदिक विचार के अनुसार हमें शरीर के प्रति यह भाव रखना चाहिए कि यह सप्त ऋषियों की तपोभूमि है और इसे किसी प्रकार से दूषित नहीं होने देना चाहिए।

१००. हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

हे ईश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जो उत्तम काम हम करते हैं वे सब आपके समर्पण हैं जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि हमको प्राप्त हो।

१०१. "भगवान् के प्रति किसका प्रेम सच्चा है"—यह प्रश्न था, जिसपर दो प्रभु-प्रेमियों में बातचीत होने लगी—

एक ने कहा—भगवान् के भेजे हुए दुःख को जो स्थिरता से सहन नहीं कर सकता वह सच्चा प्रेमी नहीं।

दूसरे ने कहा—किन्तु इसमें अभिमान की गन्ध आती है।

पहले ने कहा—वह सच्चा प्रेमी नहीं, जो दुःख के लिए भगवान् को धन्यवाद न दे।

दूसरा—इससे भी और ऊँचा दर्जा है।

पहला—वह सच्चा प्रेमी नहीं, जो दुःख में सुख की प्रतीति न करे।

दूसरा—यह सबसे उत्तम नहीं है। सबसे उच्च-कोटि का प्रेमी वह मनुष्य है जो भगवान् में ऐसा लीन रहे कि उसे दुःख की खबर ही न

□

भक्तों के भजन

(१)[1]

हे जगत् स्वामी प्रभु जी भेंट धरूँ क्या मैं तेरी।
माल नहीं मेरे सम्पत नहीं, जिसको कहूँ मैं मेरी।
इस जगह में ऐसे विचरें, जोगी करे ज्यों फेरी।
धन जन यौवन अपना माने, मूरख भूला भारी।
तुझ बिन और सहाई न मेरा, देख लिया मैं विचारी।
यह तन यह मन होवे न अपना, है सब माल तुम्हारा।
जो चाहे तब ही तू लेवे, नहीं कुछ जोर हमारा।
तुमरे ही दर का भिखारी मैं स्वामी, लाज तुम्हें है मेरी।
चरण-शरण निज अर्पण करके, देओ भक्ति बिन देरी।

(२)

पितु मातु सहायक स्वामी सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और आधार नहीं, तिनके तुमही रखवारे हो॥
प्रतिपाल करो सिगरे जग को, अतिशय करुणा उरधारे हो।
महाराज! महामहिमा तुम्हरी, समझें विरले बुधवारे हो॥

---

१. श्री महात्मा हंसराज जी का प्यारा भजन, जिसे वे प्रतिदिन प्रात. गाया करते थे, और जब आप मृत्यु-शय्या पर पड़े थे तब भी यही भजन सुना करते थे।

शुभ शान्ति-निकेतन प्रेमनिधे ! मन-मन्दिर के उजियारे हो।
यहि जीवन के तुम जीवन हो, इन प्राणन के तुम प्यारे हो ।।
तुम-सों प्रभु पाय 'प्रतापहरि', केहि के अब और सहारे हो ।।

(३)

हे दयामय ! आपका हमको सदा आधार हो।
आपके भक्तों से ही भरपूर यह परिवार हो ।।
छोड़ देवें काम को और क्रोध को मद-मोह को।
शुद्ध और निर्मल हमारा सर्वदा आचार हो ।।
प्रेम से हिल-मिल के सारे गीत गावें आपके।
दिल में बहता आपका ही प्रेम-पारावार हो ।।
जय पिता जय-जय पिता हम जय तुम्हारी गा रहे।
रात-दिन घर में हमारे आपकी जयकार हो ।।
धन-धान घर में जो सभी कुछ आपका ही है दिया।
उसके लिए प्रभु आपका धन्यवाद सौ-सौ बार हो ।।
पास अपने हो न धन तो उसकी कुछ परवाह नहीं।
आपकी भक्ति से ही धनवान् यह परिवार हो ।।

(४)

आज आली[1] बिछरो पिय पायो, मिट गये सकल क्लेश री !
सागर ताल नदी नद सारे, ग्राम नगर गिरि कानन सारे।
एक न छोरी ढूंढ फिरी मैं, भटकी देश-विदेश री !
मैं विरहिन ऐसी बौरानी, सीखन डोली कपट महानी।
बीत गई सारी तरुणाई, पर प्यारे की थाह न पाई।
खोजत-खोजत मो दुखिया के, धौरे हो गये केश री !
योगी एक अचानक आयो, जिन मेरो भरतार लखायो।
सो 'शंकर' साँचो हितकारी, भ्रम-तम पलट दिनेश[2] री।

---

१. सखी, २. सूर्य।

(५)

नैया कैसे उतरे पार ? ।। टेक ।।
वार न दीखे, पार न सूझे, आन पड़ी मँझधार ।
बिजली चमके बादल गरजे, उलटी चलत बयार ।
गहरी नदिया नाव पुरानी, केवट अति मतवार ।।
ध्रुपद सुनावत सुने न कोई, मेरी कूक पुकार ।
वेगवती दुस्तर जलधारा, उठी तरङ्ग अपार ।।
जिन हाथों में सब जग थामा, सो प्रभु हाथ पसार ।
'अमीचन्द' की तारो नौका, डूब रही मँझधार ।।

(६)

पीकर तेरा प्रेम प्याला हो जाऊँ मतवाला ।
प्रेम की बाती प्रेम का दीपक प्रेम की होवे ज्वाला ।।
मन-मन्दिर में जगमग करके हो जावे उजियाला ।
मेरे घर के अन्दर बहता होवे प्रेम का नाला ।।
जब-जब प्यास लगे उसमें से भरकर पी लूँ प्याला ।
धो दे प्रेम-वारि से अब तू, मन मेरा मटियाला ।।
तेरे प्रेम के रंग में रँगकर हो जाऊँ रँगियाला ।
प्रेम-अश्रु से सिंचित प्रेम का बाग लगे हरियाला ।।
प्रेम-प्रसून[1] लगे हों उनमें, उनकी गूँथूँ माला ।।

(७)

हमने ली है प्रभु एक तुम्हारी शरण,
हे पिता और कोई हमारा नहीं ।
पतित-पावन अब आसरा दो हमें,
आसरा और कोई हमारा नहीं ।।

---

१. पुष्प ।

न बुद्धि, न भक्ति, न विद्या का बल,
हृदय पर चढ़ा पाप-कर्मों का मल ।।
तुम्हारी दया का है इक आसरा,
तुमने किस-किसको स्वामी उबारा नहीं ।।
यह विनती है मेरी पिता मान लो,
अनाथों के दुःखों को पहचान लो ।।
तुम्हीं सबके अज्ञान को जान लो,
हाथ किसी और को पसारा नहीं ।।

(८)

भली बनी है सवारी नाथ, मेरी भली बनी है सवारी ।। टेक ।।
अपयश ऊँट अकीर्ति हथिनी अधर्म्म पालकी न्यारी ।
कई करोड़ पापों के छकड़े से लद चले हैं अगारी ।
संग सवार कुटिल भील से काम कुटिल दल भारी ।
सर पर छत्र डुले हिंसा को, डर गई दया बिचारी ।
धर्म कर्म नेरे नहीं आवें, तजि गये भूमि हमारी ।
सब पतितन में नामी कहाऊँ, कैसे आऊँ शरण तुम्हारी ।
'सूरदास' पर किरपा कीजो हे दीनन-हितकारी ।।

(९)

गये दोनों जहान नजर से गुज़र,
तेरी शान का कोई बशर न मिला ।।
तेरी हर जगह देखी निराली फबन,
तेरा भेद किसी को मगर न मिला ।।
तेरी चर्चा जहाँ की ज़बानों पे है,
तेरा शोर ज़माने के कानों में है ।।
मगर आँखों से देखा तो पर्दानशीं,
कहीं तू न मिला, तेरा घर न मिला ।।

कोई मिलने को तेरे निशान भी है,
कोई रहने को तेरे मकान भी है॥
तुझे देखा इधर तो इधर न मिला,
तुझे ढूंढा उधर तो उधर न मिला॥
कहीं दस्ते-सवाल दराज़ नहीं,
किसी और पे यूं मुझे नाज़ नहीं॥
कोई तुम-सा गरीबनवाज़ नहीं,
तेरे दर के सिवा कोई दर न मिला॥

(१०)[1]

अन्त समय में हे जगदीश्वर!
तेरा सुमरण तेरा ही ध्यान हो।
काबू में होवें इन्द्रियाँ अपने,
वश में प्राण और अपान हो॥
खाली हो चित्त वासनाओं से,
दुख का न उसमें नामो-निशान हो॥
श्रद्धा से भरपूर मन होवे अपना,
भक्ति की हृदय में उत्कृष्ट खान हो॥
सत ही पे निर्भर हों काम अपने,
सत ही का अभ्यास सत ही की बान हो॥
जीते हों सत पर, मरते हों सत पर,
सत ही का ज़ोर व सत ही का भान हो॥
भूलें न यम को, पालें नियम को,
जीवन में अपने तप ही प्रधान हो॥
लवलीन हों प्रेम में तेरे ऐसे,
सुख की न सुध हो दुख का न भान हो॥

---

१. श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी का भजन।

(११)

सुन मन ! हित की बात सुनाऊँ ।
नित विषयों की सोच करे तू, यह पीऊँ यह खाऊँ ।
यह झाँकूँ यह तान सुनूँ, औ यह सुगन्ध लिपटाऊँ ॥
कभी न सोचा मूरख तूने, काम किसी के आऊँ ।
इन हाथों से किसी दुखी का कुछ तो दर्द मिटाऊँ ॥
ले कृपाण रण-साज सँवारूँ, कुछ जौहर दिखलाऊँ ।
और नहीं तो आँसू तक ही, पोंछ किसी के आऊँ ॥
ढोर मरे सोचे बन जूता, जग के पैर बचाऊँ ।
टुक विचार अपनी चमड़ी पर, मैं क्योंकर इतराऊँ ॥
जीते जी कर ले कुछ करनी, बारहि बार मनाऊँ ।
कहीं न रोवे, अब बीते दिन कैसे फेर बुलाऊँ ॥
बिन माँगे ही सब रस पावे, तुमको राह बताऊँ ।
प्रभु-भजन वह कल्प-वृक्ष है, जिससे सब फल पाऊँ ॥

□□

महात्मा आनन्द स्वामी कृत पुस्तकें

महामन्त्र
दो रास्ते
तत्त्वज्ञान
प्रभु-दर्शन
प्रभु-भक्ति
बोध कथाएं
सुखी गृहस्थ
मन की बात
एक ही रास्ता
घोर घने जंगल में
मानव जीवन गाथा
भक्त और भगवान्
प्रभु-मिलन की राह
शंकर और दयानन्द
आनन्द गायत्री कथा
उपनिषदों का सन्देश
मानव और मानवता
यह धन किसका है ?
देश-भक्ति प्रभु-भक्ति
वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा
दुनिया में रहना किस तरह ?
श्री म० आनन्द स्वामी सरस्वती जीवनी (उर्दू)
म हा मं त्र (उर्दू)
The Only Way (अंग्रेज़ी)
Gayatri Discourses (अंग्रेज़ी)

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती कृत

वेद सौरभ
षड्दर्शनम्
प्रार्थनालोक
शिव-संकल्प
दिव्य दयानन्द
ब्रह्मचर्य गौरव
आदर्श परिवार
ऋग्वेद शतकम्
यजुर्वेद शतकम्
सामवेद शतकम्
अथर्ववेद शतकम्
चतुर्वेद शतकम्
घरेलू औषधियाँ
कुछ करो कुछ बनो
वाल्मीकि रामायण
यजुर्वेद - सूक्ति - सुधा
सामवेद - सूक्ति - सुधा
अथर्ववेद - सूक्ति - सुधा
ऋग्वेद का अक्ष - सूक्त
वेद - सौरभ (संक्षिप्त)
मर्यादा पुरुषोत्तम राम
वैदिक उदात्त भावनाएँ
विद्यार्थियों की दिनचर्या

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

महात्मा आनन्द स्वामी कृत

उत्प्रेरक पुस्तकें—महामन्त्र, तत्त्वज्ञान, दो रास्ते, [illegible] दर्शन, प्रभु-भक्ति, बोध कथाएं, सुखी गृहस्थ, मन की बात, एक ही रास्ता, घोर घने जंगल में, मानव जीवन गाथा, भक्त और भगवान्, प्रभु-मिलन की राह, शंकर और दयानन्द, आनन्द गायत्री कथा, उपनिषदों का सन्देश, मानव और मानवता, यह धन किसका है ? दुनिया में रहना किस तरह ? वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा, Gayatri Discourses (अंग्रेज़ी),

श्री म० आनन्द स्वामी सरस्वती (जीवनी), (उर्दू)

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६